वने निर्वासिता सीता

कविरत्नम्, आचार्य डॉ० विशुद्धानन्द मिश्रः

ओ३म्

वने निर्वासिता सीता

रचयिता

कविरत्नम्, आचार्य डॉ. विशुद्धानन्द मिश्रः
वेदार्थकल्पद्रुमप्रणेता, पूर्वकुलपतिः
बदायूँ (उ.प्र.)

सम्पादिका

आचार्या डॉ. मृदुला शर्मा
एम.ए., पी-एच.डी.
प्रवक्ता (आंग्लभाषा),
श्री गुरुनानक रिक्खी सिंह कन्या विद्यालय,
बरेली (उ.प्र.)

प्रकाशकम्

आचार्या श्रीमती निर्मला मिश्रा पुरस्कार समिति
वेद मंदिरम्, कूँचा पांडा, बदायूँ (उ.प्र.)

प्रकाशकम्

आचार्या श्रीमती निर्मला मिश्रा पुरस्कार समिति
वेद मंदिरम्, कूँचा पांडा, बदायूँ (उ.प्र.)

पुस्तक प्राप्ति स्थानम्

(क) गुरुकुल वृन्दावन स्नातक शोध संस्थान
७४, तरुण एन्कलेव, पीतमपुरा,
दिल्ली-३४
(ख) निर्मलानन्द मंदिरम्,
१०३/४९, नवयुग अपार्टमेन्ट, सेक्टर-९,
रोहिणी, दिल्ली-८५

प्रथमं संस्करणम् - २००१

मूल्यम् - पञ्चाशत्रूप्यकाणि

मुद्रकः - पैकिंग प्रिंटर्स, सब्जी मण्डी, दिल्ली

अनुक्रमः

समर्पणम्



आचार्याश्रीमतीनिर्मलामिश्रा

(जन्म २१ जून १९३१-दिवंगता १५ जून १९९४)

त्वां विना देव्यकिञ्चिद्धनो निर्धनः
सम्प्रदद्यां प्रियं त्वत्प्रसादाय किम्?
स्वीकुरुष्वाद्य बालाः स्मरन्तो मया,
साकमेवाऽर्पयन्ते प्रणामाञ्जलिम्

हे देवि! तुम्हारी प्रसन्नता के लिए और कोई प्रिय-धन नहीं है, तो तुम्हें क्या दूँ? लो, आज तुम्हारे लिए मेरे साथ स्मरण करते हुए, तुम्हारे बालक अश्रुपूर्ण प्रणामांजलि दे रहे हैं, उसे स्वीकार करो।

समर्पकः

आचार्यविशुद्धानन्दमिश्रः

प्राक्कथनम्

अगाधव्यथाम् अभिव्यक्तीकर्त्तुं स्फुरितोत्तराधरौ भवतस्तु परं किमपि कथयितुं न पारयेते यदाहि पाषाणस्य हृदयं विस्फोट्य हिमजडित-हिमालयस्य वेदनामभिव्यञ्जयितुं निर्झराणां ध्वन्यात्मकोऽवर्णशब्दः पानीयं भूत्वा प्रवहते तदा कवीश्वर-कालीदासस्य इयमुक्तिः समग्रतया चरितार्था भवति यत् -

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"

इतिहासोऽस्ति साक्षी यन्मर्मस्पर्शिन्या वेदनायाः प्रतिनिधित्वं सहिष्णुतायाः पीडायाश्च सविग्रह-पुञ्जी-भूता नार्येव केवला कर्त्तुं समर्था। भवेन्नाम आसुरशक्त्या दारुण-दमनेन 'त्राहि-त्राहि' इति कुर्वाणा मानवता, यस्या व्यथा-कथां वर्णयन्ती भगवतो विष्णोः शरणं गता पृथ्वी नारीरूपे आर्त-परित्राण-प्रार्थनां निवेदयते स्म। अपि वा राज्य-सुख-पालने सुपालिता दुःखिनी विदर्भ-राज-सुता भवेद् या दुर्भाग्य-विडम्बनया वन्य-हिंसक-श्वापदानां क्रूरता-पूर्ण-मृत्योस्त्रांसदच्छायायां जीवन-मरणयोर्दोलायां राज्ञा नलेन स्वजीवनस्य सर्वोत्तमाभीष्ट-निधिमुपलभ्यं निराश्रितमरक्षितं च विहातुं यमराजस्य कस्यचिद्भाविनः पाशस्य सम्भावनया विवशीभूय किंकर्त्तव्यता-विमूढावस्थायाम् इदमसम्भाव्यं कृतं भवेत्।

अथवाऽऽकस्मिकशयनमभिनयतः कस्यचित् निर्ममोन्निद्र-वैराग्यस्य शृङ्गे परात् परायाः शान्तेः स्वप्नान् साकारान् विधातुम् उद्व्यग्रयौवनस्य द्वारि वार्धक्य-सुलभ-निर्वेदस्य सुदृढ-हस्तेन हस्तकं (दस्तक) ददानस्य कस्यचिन्निरागसो निरीहस्य कदाऽप्यस्यैव बुद्धस्य स्वप्निल-राज्य-वैभवे स्नेह-सुपोषितां राज्ञीं सुषुप्तां यशोधरां तया च सहैव तस्याः प्रसुप्त-भाग्यं यस्मिन्भाग्ये कस्याश्चिन्नापरस्या नार्याः स्वर्णिम-सौभाग्य-खण्ड-प्राबन्ध (पैबन्द) मपि योजयितुं शशाक।

तामाहत-भाग्यताया मध्यनिशायां घोर-कृष्ण-तमिस्रायाम् आजीवनं निर्लक्ष्यमटितुम्- आमुञ्चत्।

परमियं सीता तु अनिर्वचनीय-निष्ठुर-भाग्यमादधाना हलफालस्य तीक्ष्णधारया पृथिव्या मातुः करुण-कुक्षिजाता, राज्ञो जनकस्य विदेहस्य पालने पालिता विदेहनन्दिनी आजीवनं सदेहाऽपि विदेहा सती, विषमावस्थासु जीवनं धारयितुं विवशा विरहाग्नौ सम्पूर्णतया अदग्धाऽपि विप्लुष्ट-कलेवरा दन्दह्यमानैव अवसत्।

अद्याऽपि अयोध्यापुर्याः सौधप्रासादानां राज्ञी व्याल-व्याघ्र-समाकीर्णारण्यान्यां स्वदुःखस्य स्मृति मननुभूय मर्यादा-पुरुषोत्तमरामस्य पीडाया अनुमापनं कुर्वन्ती वेदनाया विह्वलतायाश्चाङ्के पाल्यमाना अभूत्। एतस्य सुयशस्क-रघुवंशस्य कुलवध्वा अश्रुमुक्ताभिर्ग्रथितायाः करुण-गाथाया वाञ्छिताऽभिव्यक्तये एतं कविं न तु विलापाय कश्चन स्वरो मिलितो नापि वैतच्चित्रयितुं तूलिका कमपि वर्णमलभत। पुनरपि कविस्तदवाप्तुं सतत-प्रयासस्य परिधौ अटाट्यामभीसितामेवामन्यत सुखदामपि। कथमेतत्, इति प्रश्नस्य समाधानं तु-

"परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।"

इत्युक्तेः सानुरागोपासकानां पाठकानां हृदयेषु कृतिमेतां तथैव समर्पयामि यथा अनाश्रयां सीतां वने महर्षिवाल्मीकेः करुणाऽवलम्बने तस्या भाग्यं विधिना समर्पितम्।

ममाऽपि गृहस्थ-जीवनस्य प्रवेशद्वारि एव यस्यां निर्मल-करुण-गाथायां मम हृदयमाश्रयमाश्वासनं वाऽऽलभत तस्यां वन्दनीय-श्वश्रू-मातुः श्रीमत्याः सुखदेव्याः वैधव्य-जीवनस्याजस्रऽश्रु-प्रवाहाऽऽर्द्र-क्रोड-पालनायां लालित-पालित-प्रतिभा-पुञ्ज-विग्रहवती, अन्तर्लीना-ऽखण्ड-ज्ञान-स्रोतस्विनी रसमयी वरद-सरस्वत्याः प्रसाद-पूर्णशेवधिरिव सहज-साहित्यिकाभिरुचि-रुचिरा नव-नवोन्मेषिणी

रम्य-सुषमा-स्वरूपिणी आपाद-मस्तक-निर्मल-विवेक-भूषित-हृदया सहृदया धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला देवी अकिञ्चनमपि स्वसौभाग्यन्यां वरणेनापरिमितकीर्ति-सुख-समृद्धिभिरापूरयत्।

तथापि सहृदया सा मां दुर्भाग्य- विडम्बनाया घोरारण्यां शेषमशेष-जीवनं यावदेकाकिनं परित्यज्य कस्याश्चिदज्ञात-सर्वशक्तेरादेशस्यानि- वार्य-पालने विवशा सती तस्मिन्नेवानन्ते सुखं शयितुं प्रस्थिताऽकाले, तस्या विधिना सहचरीकृताया अपि मम जरा-जर्जरित-कलेवरेऽसहचारिण्या अभावेऽयं करुण-काव्याञ्जलि-लतिका प्रतिपद मश्रुधारापरिषिञ्चिता जगज्जनन्या भगवत्या जानक्याः कण्टकाऽऽकीर्ण-पाथ- गाथायाः प्रवर्षत्- करुणरस-वारिदावल्या मिषेण तत्-साहचर्य-सुखद- प्रेमालापान् संस्मरद् अद्याऽप्यनवरुद्ध-क्रन्दनं साश्रुश्रद्धं सस्नेहं समर्प्यते।

चिरकालादप्रकाशितैवावर्त्ततेयं कृतिर्ममात्मजकल्पस्य दिल्ली-विश्वविद्यालयस्य हिन्दी-प्रवक्तुः प्रिय श्री सूर्यप्रकाश स्नातकस्य दृग्गोचरीकृतं नाऽभविष्यत् तदाऽप्रकाशितैवाऽस्थास्यत् तदेतं दीर्घायुष्य-शुभाशीभिर्वर्धयामि। डाक्टरश्रीधर्मवीराचार्याय प्रियब्रह्मचारिरामचन्द्राय च मुद्रापणाय सुवाच्याक्षरेषु परिणतिं प्रापयितुं हृदयेन स्वस्तिकामोऽस्मि।

विदुषां वशंवदः

कविरत्नम्, आचार्य विशुद्धानन्द मिश्रः

प्राक्कथन

अगाध-व्यथा को व्यक्त करने के लिए होठ फड़कते तो हैं, पर कुछ कह नहीं पा रहे हैं। जबकि पाषाण के हृदय को फोड़कर हिमजडित हिमालय की वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए झरनों के ध्वन्यात्मक अवर्ण-शब्द पानी बनकर बहने लगते हैं, तब कवीश्वर-कालीदास की यह उक्ति सम्यक्तया चरितार्थ होती है कि-

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"

इतिहास साक्षी है कि मर्मस्पर्शिनी वेदना का प्रतिनिधित्व सहिष्णुता और पीड़ा की सविग्रह-पुंज-भूत केवल नारी ही कर सकती है। चाहे वह आसुरी-शक्ति के दारुण-दमन से 'त्राहि-त्राहि' करती हुई मानवता हो, जिसने भगवान् विष्णु की शरण में पृथ्वी (नारी) के रूप में व्यथा की कथा कहकर परित्राण पाने की गुहार की हो, अथवा राज्यसुखों के पालनों में पली दुःखिनी विदर्भराज सुता हो, जिसके दुर्भाग्य की विडम्बना से बनैले-हिंसक-श्वापदों से क्रूरता-पूर्ण मृत्यु की त्रासदी छाया में जीवन और मौत की दोला में राजा नल ने अपने जीवन की अन्तिम उपलभ्य थाती को निराश्रित छोड़ने के लिए यमराज के किसी भावी पाश की सम्भावना से विवश होकर किंकर्त्तव्यता की विमूढ़ अवस्था में यह असम्भाव्य छलना की हो।

अथवा अकस्मात् सोने का अभिनय कर किसी निर्मम उनीदे वैराग्य के श्रृंग पर परात्पर-शान्ति के स्वप्नों को साकार करने को उतावले यौवन के द्वार पर वार्धक्य-सुलभ निर्वेद के सुदृढ़ हाथों ने दस्तक देते हुए किसी मासूम और कभी इन्हीं बुद्ध के सपनों के राज्य-वैभव में दुलराई रानी सोती हुई यशोधरा को और उसके साथ सोते हुए भाग्य को - जिस भाग्य में किसी और सुखी नारी के स्वर्णिम सौभाग्य के टुकड़े का पैबन्द भी नहीं लग सका, उसे आहत-

भाग्यवत्ता की मध्यनिशा की घोर काली तमिस्रा में आजीवन भटकने के लिए छोड़ दिया हो।

पर सीता तो अनिर्वाच्य-निष्ठुर- भाग्य लेकर हल के फाले की तीक्ष्ण धार के उत्खनन द्वारा माँ पृथिवी की करुण-कोख से जन्मी, राजा जनक 'विदेह' के पालने में पली, विदेहनन्दिनी, जीवन-भर सदेह होकर भी विदेह बनकर विषम-परिस्थितियों में जीवित रहने के लिए विवश हुई, जो विरह की आग में सम्पूर्णतया पूरी न जल पाई, जीवन भर जलती, झुलसती और सुलगती ही रही।

आज भी अयोध्या के महलों की रानी, व्याल-व्याघ्र-समाकीर्ण-अरण्यानी में अपने दुःख की स्मृति न करके मर्यादा-पुरुषोत्तम-राम की पीड़ा का ही मापन करती रहकर वेदना और विह्वलता की गोद में पलती रही। इस यशस्वी रघुवंश की कुलवधू के अश्रुमुक्ताओं से पिरोई करुण-गाथा की वाञ्छित अभिव्यक्ति के लिए इस कवि को न तो विलाप के लिए कोई स्वर ही मिला और न चित्रण के लिए इसकी कल्पना-कूची को कोई रंग ही मिल सका। फिर भी कवि को सतत-प्रयास की परिधि में इस करुण-काव्य को प्रस्तुत करते हुए भटकना भी अभीष्ट और सुखद लग रहा है, क्यों? इसका उत्तर है:-

"परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।"

के अनुरागी सहृदय पाठकों की ही सहानुभूति का इस कृति को अवलम्बन है, जिस भाँति अनाश्रित सीता के लिए एकमात्र ब्रह्मर्षि वाल्मीकि की करुणा का अवलम्बन मिल गया।

मैंने अनुभव किया है कि जब कभी मेरे प्रवचनों में मर्यादापुरुषोतम श्री राम जी और भगवती सीता के वनवास-व्यथाओं की कहानी चर्चा में आई तो सहज मृदुल, मञ्जुल और वात्सल्य भरे श्रोता-महिलामडण्ल के हृदय द्रवित हो आंखों से अश्रुधारा बनकर पिंघल पड़े। मातृसम्मेलन के अनन्तर नयाबांस स्त्री समाज दिल्ली की

प्रधाना श्रीमती कौशल्या दैवी ने अपनी मन्त्रिणी श्रीमती वीणा देवी के साथ मुझसे इस वेदना भरी कहानी को अविलम्ब प्रकाशित करने का सहज अनुरोध भी कर डाला।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भगवती सीता के पावन चरित्र की अगाध वियोग सागर के थपेड़ो को सहन करने की धीरता और गम्भीरता तथा पतिश्री राम जी की विवशता का कारण उनको निर्दोष सिद्ध करने की ममत्व भरी भावना भारतीय नारी के चरित्र की सर्वोतम उदात्त प्रकृति का अद्‌भुत आदर्श प्रस्तुत कर विश्वभर को अनुकरणीय उदाहरण सिद्ध होगी।

मेरे भी गृहस्थ जीवन के प्रवेश द्वार पर ही जिस निर्मल करुण-गाथा ने मेरे हृदय में आश्रय व आश्वासन पाया था उसी वन्दनीय श्वश्रूमाता श्रीमती सुखदेवी के वैधव्य दीर्घजीवन के अजस्र अश्रुप्रवाह से गीली गोद के पालने में लालित पालित प्राज्ञ-प्रतिभा-पुञ्ज, अन्तर्लीन अखण्ड-ज्ञान की स्रोतस्विनी रसमयी, वरदायिनी सरस्वती की प्रसादपूर्ण निधि के समान सहज-साहित्यिक सुन्दर अभिरुचि को संजोये, नवनवोन्मेषशालिनी, रमणीय शोभा स्वरूपिणी आपादमस्तक निर्मल-विवेक से विभूषित सहृदया धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला देवी ने मुझ अकिञ्चन को अपने सौभाग्यशाली वरण से अपरिमित कीर्ति और सुख समृद्धि से भर दिया।

तदपि सहृदया वह मुझे दुर्दैव-विडम्बना की घोर अरण्यानी में शेष अशेष जीवन के क्षणों तक भटकने के लिए एकाकी छोड़कर किसी अज्ञात सर्वशक्तिमान् के आदेशपालन में विवश होकर उसी अनन्त में सुखपूर्वक शयन करने को असमय में प्रस्थान कर गईं। सौभाग्य से वे एक दिन सहचरी बनी थीं पर मुझे इस जरा जर्जरित कलेवर में साथ न दे सकीं उनके अभाव में प्रतिपद अश्रुप्रवाह से परिषिञ्चित यह करुण-काव्याञ्जलि लतिका जगत्-जननी भगवती जानकी की वन्य कण्टकाकीर्ण पथ गाथा की वरसते करुण रस की

वारिदावलि के व्याज से, इस साहचर्य के सुखद प्रेमालाप के अतीत क्षणों का संस्मरण करते हुए आज भी ये अनवरुद्ध आँसू सहित, सस्नेह, सश्रद्ध अर्पित है।

चिर काल से अप्रकाशित यह कृति मेरी आत्मजा डॉ. मृदुला शर्मा सचिव, आचार्या श्रीमती निर्मला मिश्रा पुरस्कार समिति द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित है। आत्मजकल्प चिरञ्जीव डॉ. सूर्यप्रकाश स्नातक (हिन्दी प्रवाचक, हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय) को मैं दीर्घायुष्य की कामनाशीष प्रदान करता हूँ। मेरे शिष्य डॉ. धर्मवीर आचार्य तथा प्रिय ब्रह्मचारी रामचन्द्र को शुभाशीष व साधुवाद से भूषित करता हूँ जो कि इन्होंने पाण्डुलिपि को सुलेखित कर मुद्रापण के द्वार तक पहुँचाया।

विदुषां वशंवदः
कविरत्नम् आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र

वने निर्वासितायाः सीताया अन्तर्व्यथा (१)

राजा रामो रजकवचसा सन्मना विप्रलब्धः,
घोराटव्यां वसतिमदिशत् स्वप्रजावत्सलो मे।
हर्म्याणां राज्ञ्यतिघनवने निर्जने याचतेऽद्य,
वन्या वृक्षा ददतु शरणं पर्णकच्छायमाशु ॥१॥

प्रजावत्सल राजा राम धोबी की अकल्याणी वाणी से प्रतारित (धोखे में आकर) होकर आज सीता को घनघोर जङ्गल में छोड़ने का आदेश दे बैठे हैं। वही महलों की रानी इस अत्यन्त घने निर्जन वन में निवास पाने के लिये आज याचिका बनी हुई है कि हे वन के वृक्षों! दया करके मुझ निर्वासिता सीता को अपने पत्तों की छाया दे दो ॥१॥

सिन्दूरस्याऽऽलसति रुचिरा भालरेखाऽरुणेयम्,
शृङ्गारोऽयं कथयति मुहुर्वर्जितोऽहं परन्तु।
ग्रीवायां वै लसति रुचिरं माङ्गलं सूत्रमेतत्,
किन्तु ब्रूतेऽनुनयनमिदं सर्वथा वर्जितं मे ॥२॥

मेरे सिन्दूर की यह अरुणिम भाल रेखा सुन्दर और सुशोभित हो रही है, परन्तु शृङ्गार कह रहा है कि मैं तो अब सर्वथा अपवर्जित हो गया हूँ। गले में यह जो माङ्गलिक सूत्र शोभित हो रहा है, वह कह रहा है कि मेरे लिये अब अनुनय व मनुहार सर्वथा वर्जित हो चुका है ॥२॥

तोयेऽरण्ये मुखसमुदितां भावराशिं तु वीक्षे,
मन्येऽलभ्यं विमलमुकुरं मेऽपि बिम्बं हि शप्तम्।
दत्वा पूताऽप्यवदमपि नो वह्नि-मध्ये परीक्षाम्,
नान्यो राज्ये दुरितमयितो दुःखिनीं मां विहाय ॥३॥

निर्मल दर्पण न मिल सकने पर इस आरण्यक बावड़ी में प्रतिबिम्बित मुख को देखकर मैं मानती हूँ कि मेरा बिम्ब भी अभिशप्त सा हो रहा है। अग्नि के मध्य में परीक्षा देकर, पवित्र सिद्ध होकर, अब भी मैं कुछ न बोल पाई। यह सच है, मुझ दुःखिनी को छोड़ कर राम-राज्य में मुझ जैसी कोई दूसरी दुःखिया न होगी॥३॥

सर्वाण्येव त्रुटिमुपगतान्यञ्जसा बन्धनानि,
वैवाहे यान्यकृत रघुनाथः प्रतिज्ञान-काले।
बद्धोऽन्यत्राऽप्यखिल-जनता-पालको राजरामः,
व्यस्मार्षीत् किन्त्वहमपि प्रजा किन्न तस्यैव राज्ञः॥४॥

वैवाहिक मण्डप में श्री रघुनाथ जी ने प्रतिज्ञाओं के समय जो वचन-बन्धन किये थे, आज वे वचन श्री रघुकुल तिलक ने तोड़ दिये, क्योंकि अखिल जनता के पालक राम राजा बनकर कहीं अन्यत्र भी वचनबद्ध हो चुके हैं। किन्तु मेरे दुर्भाग्य से वे इतना भूल रहे हैं कि उनकी अर्द्धाङ्गिनी मैं भी उसी प्रजावत्सल राजा की प्रजा हूँ॥४॥

सीमान्तं वा किमपि विपदां जीवने संस्पृशन्ती,
जीविष्यामि प्रणिहितममत्वाऽपि वा राम-राज्ये।
यद्यप्याऽस्ते नहि खलु मम प्राण-मोहोऽपि-किञ्चित्,
तद्-राज्ये हा प्रभवति न मे चात्मघातेऽधिकारः॥ ५॥

विपत्तियों के जीवन की अछूती सीमा रेखा को छूती मैं राम राज्य में ममत्व रखती हुई जैसे भी होगा जीवित तो रहूँगी ही। यद्यपि मुझे प्राणों का मोह किंचिन्मात्र भी नहीं है, किन्तु हा! उन राजा राम के राज्य में मेरा आत्मघात करने का अधिकार भी तो छिन चुका है॥५॥

मर्यादां सोऽवनिपतिरिमां कष्ट-कष्टे निकामम्,
पुष्णन् सीतामृत इह गृहे जीवितो हा कथंचित्।

जाने किन्तु प्रतिपलमुदासीनतां तामुपेक्ष्य,
कर्त्तव्ये स्वे प्रणिहित-मना धीरभावः प्रशास्ति ॥६॥

मैं जानती हूँ कि सीता के बिना सहृदय राम घर में जैसे तैसे, या कैसे जीवित हैं! वे अवनिपति महान् कष्टों में मर्यादा का पालन करने को विवश हैं और मैं यह भी जानती हूँ कि वे कर्त्तव्य-पालन के समय मेरी चिन्ता में आई उदासीनता की उपेक्षा कर कर्त्तव्य में मन लगा कर धैर्य धारण कर प्रशासन चला रहे हैं॥६॥

मातर्भूमेऽहमपि सुतरां तद्वियोगप्रदाहम्,
सोढ्वा धैर्ये कथमपि वहे प्राणयानं तु वेत्सि।
संघर्षेभ्यो भयमुपगता वीररामस्य पत्नी,
धीरस्यापि प्रभवतु न वा नव्य-लोकापवादः॥७॥

हे मातृभूमे ! तुम अच्छी भाँति समझ रही हो कि मैं उनके वियोगाग्नि-प्रदाह को जैसे तैसे सहकर धीरज धर प्राणों की गाड़ी को कैसे खींच रहीं हूँ, क्योंकि वीराग्रणी राम की पत्नी जीवन के संघर्षों से भयभीत हो गई, धैर्य-धन राजा राम के प्रति कहीं ऐसा नया लोकापवाद न बन जाये ॥७॥

यावद् वीक्षे स्वचरणगतिं प्रालयं लक्ष्यमाप्तुम्,
तप्ते मार्गे विरहविधुरे नेत्रमेघा झरन्ति।
अस्राम्बूनि द्रुतमहमलं त्यक्तुमिच्छामि प्राणान्,
रुन्धे मार्गं प्रसृत-भुजवान् त्वाद्दगेत्य स्मितास्यः॥८॥

जब मैं अपने चरणों की प्रगति को प्रलय के लक्ष्य पर लगभग पहुँचते देखती हूँ, तब नेत्र-मेघ विरह-तप्त मार्ग को अश्रु जलों से गीला कर देते हैं। मैं प्राणों को छोड़ना ही चाहती हूँ कि इतने में स्वप्न देखती हूँ कि तुम भुजाओं को फैला कर मेरे आगे मुस्कराते हुए मार्ग को रोक कर खड़े हो जाते हो॥८॥

पीडायां वै निवस सुचिरं जीवन त्वं मदीय,
मौनं पुष्णद् वदति तिमिरे दीपक त्वं ज्वलाद्धा।
दुःखव्यूहो गरलमिह मां पातुमुत्कां विधत्ते,
द्रक्ष्यामि त्वां स्मितमुखमसूनाशया धारयामि॥९॥

हे मेरे जीवन! तुम प्रतिपल पीड़ा में पलते रहो। मेरा मौन इसकी पुष्टि करता हुआ कह रहा है कि दीपक! तुम अन्धकार में जलते रहो। दुःख समूह की स्मृति मुझे विष पीने की बार-बार प्रेरणा देती है, पर मैं कभी तो तुम्हारे प्रसन्न मुखारविन्द को देखूँगी, इस आशा से ही प्राण धारण करने को विवश हो जाती हूँ॥९॥

सत्यं वच्मि त्वसकृदवशा जीविताऽपां समाधिम्,
आप्तुं चित्तं विकलमभवत् साक्षिणी मातृभूमिः।
भागीरथ्याः सदय-हृदयं मे न दुःखं विषेहे,
वीच्युत्तङ्गैः सलिल-सुकरैराह्वयामास भूयः॥१०॥

सच कह रही हूँ कि कई बार विवश होकर मैं जीवित ही जल समाधि लेने को मन बनाती हुई विकल हो हो गई, इसमें मेरी माँ मातृ-भूमि तुम्हीं साक्षिणी हो। जब रघुकुल की उज्ज्वल कीर्ति धारा-सुरूपिणी भगवती भागीरथी का सदय हृदय मेरे दुःख को न सह सका, तब मुझे अपनी ऊँची लहरों के कोमल करों से संकेत कर बार-बार बुलाती रही है॥१०॥

यद्यप्यास्ते मम किल निजप्राण-मोहेऽपि भङ्गः,
यान्तु प्राणाः द्रुतमपि कुतः प्राणनाथेन बद्धाः।
नाथोऽसौ मे हृदय-वसतिं न क्षणं मुञ्चतीह,
श्वासाः प्राण-प्रहरिण इवेतस्ततः सङ्क्रमन्ते॥११॥

अन्तर्द्वन्द्व - मेरे प्राण नाथ! इसमें तुम्हीं साक्षी हो कि मुझे अपने प्राणों का मोह भङ्ग हो चुका है और फिर ये प्राण जायें भी तो किधर से जायें? मेरे प्राणनाथ ने तो हृदय में वसकर मेरे प्राणों को बाँध रखा

है। वे नाथ मेरे हृदय की बस्ती को क्षण भर को नहीं छोड़ते, श्वासों के आने जाने का क्रम तो परवश है, जो प्रतिक्षण पहरा देते भटका करते हैं। ॥११॥

दुःखव्यूहो विकलयति मां स्वानसून् त्यक्तुमाशु,
कुक्षिस्थं वै किमपि तु परं सूर्यवंशांश-तेजः।
प्रत्यादत्तं कथयति रहः पूर्णदायित्व-भारम्।
तत्-कर्त्तव्यं विसृजति न मे प्राण-रक्षाऽनुबन्धम्॥१२॥

दुःख का समूह मुझे अपने प्राण छोड़ने को विकल कर देता है, परन्तु सूर्यवंश का कोई तेजस्वी अंश जो मेरी कुक्षि में पति की धरोहर रूप में स्थित है, वह मुझे एकान्त में मेरे दायित्व भार का उपदेश करता है। वही कर्त्तव्य मेरे प्राणों के रक्षानुबन्धों को शिथिल नहीं होने देता॥१२॥

सत्यं त्वेतत् प्रणयि-हृदये रामभद्रे मदीयो,
मोहारोहो भवति सुतरां नाऽपि भङ्गः क्षणं हि।
जानीयात् का करुणहृदयं रामभद्रं मदन्या,
तन्वा गेहे चरति मनसाऽसौ मया साकमत्र॥१३॥

सच तो यह है कि प्रणयि हृदय श्री रामभद्र में मेरा ममत्व क्षण भर को भी भङ्ग नहीं होता। मुझसे अधिक उनके करुण कोमल हृदय को कोई नहीं जानता। वे शरीर से राजमहलों में चलते फिरते हैं, परन्तु मन से सदा मेरे पास यहीं वन में रहते हैं॥१३॥

सिंह व्याघ्राऽऽवसन-गहनारण्यरम्याश्रमस्था,
स्वप्ने पश्याम्यवनि-नृपति-स्वर्ण-सिंहासनस्थम्।
राजानं वै निखिल-जगती-पाल-सीता-पतिं तम्,
धन्या जाता सकल सुखधाऽनिद्रितैवाप्यधन्या॥१४॥

सिंह और व्याघ्रों की आवास भूमि इस गहन वन के आश्रम में रहती हुई मैं, स्वर्ण सिंहासन पर बैठे हुए, सम्पूर्ण जगती का पालन करने वाले, सीता पति राजा राम को देखती हूँ, तो समग्रसुखभागिनी मैं धन्य हो जाती हूँ, पर आँख खुल जाने पर मैं स्वयं को बड़ी अभागिनी और अधन्या पाती हूँ॥१४॥

स्वप्नः-

राजा रामो रघुकुलवधूं चिन्तयित्वा वनस्थाम्,
रामादेशव्रतिनमनुजं तं वनादाव्रजन्तम्।
दृष्ट्वाऽऽपृच्छन् जनकतनयामानसोद्वेगभावान्,
मूकं 'हूक' व्यथितमनसा तस्थतुस्तौ तदानीम्॥१५॥

राजा राम ने वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ी गई रघुकुल की वधू सीता का ध्यान कर वन से लौटे हुए आज्ञा कारी अनुज लक्ष्मण से राजा जनक की पुत्री सीता के मानस के उद्वेगभावों के विषय में पूछा तो उस समय अतिपीडाकुल दोनों भाई मूक ही खड़े रहे॥१५॥

हा सीते मद् विरह-विधुराऽभाग्यशीला जगत्याम्,
नान्या त्वादृक् त्वसुवति मयि प्राणनाथेऽप्यनाथा।
मांसप्राशव्यसनबहुलश्वापदाकीर्णभूमौ,
भीमारण्ये कथमपि भवेज्जीविता मे प्रिया सा॥१६॥

राम चिन्ता में डूबे सोचते रहे - हा सीते! मुझ प्राणवान् प्राणनाथ के जीते जी तुम अनाथ हो गईं। मेरे विरह से व्याकुल तुम जैसी इस संसार में कोई अभागिनी अन्य नहीं होगी। मांसाहारी जंगली जन्तुओं से व्याप्त उस अरण्य भूमि में मेरी प्रिया कैसे जीवित होगी? ॥१६॥

एवं भूयः सपदि विपदां व्यूहमाचिन्तयन् सः,
घस्रं रात्रिं व्यतिगमयते न क्षणं शान्तिमेति।

तत् प्रासादे सघनविपिनं दृश्यमाराद् बभासे,
मत्सान्निध्ये निवसति कुटीरेऽपि हर्म्ये सदैव॥१७॥

इस प्रकार क्षण क्षण मेरी चिन्ताओं का चिन्तन करते हुए वे दिन रात कैसे काटते होगे? मेरी चिन्ता के कारण उनके महलों में निर्जन गहन वन का दृश्य छाया रहता होगा, मेरी कुटिया में तो उनका अनवरत ध्यान आने से राज प्रासाद ही उपस्थित रहता है॥१७॥

ब्रह्मर्षे हे सहृदय-यते तापसानां वरेण्य!
गङ्गाधारा-पयसि करुणा-वारिधे मां ब्रुडन्तीम्।
उद्धृत्यावः सपदि सहसा रामभद्रो मिलेच्चेत्,
नारण्यानी-विषमविपदां चर्चनं तात कुर्याः ॥१८॥

हे तपस्विवरेण्य, सहृदय यतिवर ब्रह्मर्षे! गङ्गाधारा में डूबती हुई मुझको, हे करुणा सागर! तुमने जीवित बचा लिया है। हे तात! कदाचिद् कहीं सहसा आपको श्री रामभद्र मिल जावें तो इस घोर अरण्य की विषम विपत्तियों की चर्चा उनसे न करना॥१८॥

जानीते तं हृदयमिह मे तात तत्-पेशलं हृत्,
अन्तर्दाहं दहति सुतरां विप्रयोगे मदीये।
राजा सन् सोऽभिनयतु सदा धीरभावं त्वधीरः,
हर्म्यस्थं तं व्यथयति ममाऽरण्यवासस्य पीडा॥१९॥

अर्थः हे तात! मेरा हृदय जान रहा है कि श्री रामभद्र का कोमल हृदय मेरे वियोग वह्नि में अन्दर ही अन्दर जलता रहता है। राजा होने के कारण, अधीर होने पर भी, वे धीर भाव का अभिनय करते है, करें, किन्तु महलों में रहकर भी उन्हें मेरे वनवास की पीड़ा सदा व्यथित करती रहती है॥१९॥

वंशाधारो विसृजति न वा भास्करोऽसौ प्रभां-स्वाम्,
मर्यादापस्त्यजसि दयितां मामभिन्नां प्रियां स्वाम्।

व्यस्मार्षीः किं सकलवचनान्येकपादेऽग्निसाक्ष्ये,
सख्यं तावन्निगम-गदितं तत् पदैः सप्तभिश्च ॥२०॥

हे नाथ! आपके ही वंश के आधारभूत भगवान् सूर्य अपनी प्रभा को कभी नहीं छोड़ते, किन्तु मर्यादा पालक तुम मुझ अभिन्ना को क्यों छोड़ रहे हो ? तुमने अग्नि के साक्ष्य में दिये सब वचनों को एक पल में ही भुला दिया, वेदों में तो सात पदों (सप्तपदी) तक सख्यनिर्वाह का विधान किया गया है ॥२०॥

हाऽलं तावद् बहु-विलपनैर्मेऽश्रुधारा-प्रवाहैः,
मातॄणां तन्मृदुल-हृदयं सान्त्वनैर्धारयेथाः।
काले प्राप्ते सपदि दिनकृद्-वंश-तेजः-प्रदीपः,
मद्-गर्भस्थो निखिल-भुवनं द्योतयिष्यत्यवश्यम् ॥२१॥

हे प्राणनाथ! बस-बस, अब मेरे लिये अश्रु बहाते हुए बहुत विलाप मत करो, मेरी माताओं के दुःखित अधीर हृदयों को सान्त्वना देते रहना। सूर्यवंश का तेजस्वी प्रदीप मेरी कोख में स्थित है, समय आने पर वह संसार को अवश्य प्रकाशित करेगा ॥२१॥

संस्पर्द्धां नो कुरुत सहजैर्निर्झरैरश्रवो मे,
अद्रेर्ग्राव-प्रचित-हृदयात् प्रद्रुतैस्तैः कदापि।
शैलाऽकम्प्योत्तुलित चरणस्याहवे राघवस्य,
तान् जेतुं हृत्-कुसुम-मृदुलं शक्यमश्रुप्रवाहैः ॥२२॥

हे मेरे आँसुओं! तुम इन सहजात निर्झरों से होढ़ कभी न करना, क्योंकि ये पर्वत के पत्थरों से चुने हुए हृदय से प्रादुर्भूत हुए है। संग्राम-स्थल में पर्वत के समान सुदृढ़ (अडिग) चरण वाले वीर राघव के कुसुम से भी अधिक कोमल हृदय से बहने वाले आँसुओं से वे निर्झर सदा पराजित होते रहे हैं ॥२२॥

निर्बाधं चाऽऽवहत सुतरामश्रवो मे त्वशङ्कम्,
बाहुभ्यां वै रहसि भविता स्वाश्रु-प्रोञ्छे प्रियो मे।
व्यस्तो मात्राञ्चल-विरहितो लोकलाजाद् विभीतौ,
यावन्नैतुं प्रभवत इतो राघवाजानुबाहू॥२३॥

और हे मेरे आसुओं! तुम भी निःशङ्क होकर खुलकर बहते रहो, क्योंकि मेरे लिये प्रिय तो एकान्त में माताओं के आँचल के अलभ्य होने पर अपने, बाहुओं से आसूँ पोछने में व्यस्त होंगे, और लोक लाज से भयभीत आजानुबाहू राघव की लम्बी भुजायें यहाँ लम्ब तक पहुँचने में अशक्त रहेंगीं॥२३॥

जाने भीरो तव विषमतां त्वं च लोकापवादात्,
नागन्तुं वै प्रभवसि वने प्रोञ्छितुं मे सकाशम्।
स्वप्ने द्रष्टुं सुभग यततां याऽप्यहं वा यतिष्ये,
शुष्येदश्रु-प्रभवसरिता नौ तु सान्निध्यमाप्य॥२४॥

लोकापवाद से भीरु प्राणनाथ! मैं तुम्हारी उलझन को अच्छे प्रकार जानंती हूँ। तुम मेरे पास तक मेरे आँसुओं को पोछने नहीं आ सकते। मैं एक सुझाव देती हूँ कि हे मेरे सौभाग्य! तुम मुझे स्वप्न में मिलने का प्रयास करो और मैं भी ऐसा ही यत्न करूँगी, तो इस प्रकार हम दोनों के सानिध्य में यह अश्रुधारा स्वयं सूख जायेगी॥२४॥

किन्त्वेतस्मिन् भवति विषमो व्यत्ययः स्वप्नकाले,
पश्यन्ती त्वां सुखमनुभवन्ती च हर्म्ये स्थिताऽहम्।
चित्तं किन्तु व्यथयतितरां स्वप्नदृष्टा त्वयेयम्,
अन्तर्वत्नी गहनविपिने त्याजिता हाऽसहाया॥२५॥

हाँ! याद आया, किन्तु ऐसा करने पर एक विषम व्यतिक्रम (उल्टा) स्वप्नकाल में हो जाता है। मैं जब तुमको स्वप्न में देखती हूँ सुख का अनुभव करती हुई स्वयं को महलों में पाती हूँ, तब मेरे

तो दुःख का अन्त हो जाता है, पर जब तुम मुझे स्वप्न में देखोगे तो स्वप्न में देखी हुई मैं गर्भवती घने वन में असहाय तुम्हारे द्वारा परित्यक्ता हूँ यह मेरी दशा मेरे और तुम्हारे मन को व्यथित कर देती है। तुम्हें तो फिर भी सुख नहीं मिल सकता॥२५॥

गार्हस्थ्यान्ते व्रजति विपिनं वानप्रस्थाश्रमाय,
वार्धक्ये वै वयसि मनुजः सूर्यवंश-प्रथेयम्।
गार्हस्थ्यस्य प्रथमदिवसेऽखण्डयस्त्वं युवा ताम्,
कुक्षिस्थोंऽशः परमयमगाज् जन्मनः प्राक् तवात्र॥२६॥

हे नाथ! सूर्यवंश की तो यह प्रथा रही है कि वृद्धावस्था में ही व्यक्ति वानप्रस्थ काल में वन को जाता है, परन्तु गृहस्थाश्रम-प्रवेश के प्रथम दिन ही युवावस्था में तुमने वन को जाकर यह परम्परा तोड़ दी और मेरी कोख में स्थित सूर्यवंश के तुम्हारे किसी अदम्य तेज ने तो जन्म लेने से पहले ही वनवास को वरण कर लिया है॥२६॥

प्राप्तुं याता स्मर तु समुदा मातृपादाम्बुजेषु,
पत्या साकं त्वनुमतिमहं गन्तुमाराद् वनाय।
श्वश्र्वः श्रुत्वा विकलमनसश्चाश्रुधाराऽऽप्लुतास्ताः,
क्रोडीकृत्य क्षणमपि हि मां मूर्च्छिताः सम्बभूवुः॥२७॥

आप याद करें, मैं आपके साथ जाने के लिए प्रसन्नता से माताओं के चरण-कमलों में वन्दना कर वन जाने की अनुमति लेने गई थी, तब मेरी ये सास माताएँ यह सुनकर विह्वल होकर आसुओं में डूब गईं और मुझे गोद में चिपटा कर क्षण भर में मूर्च्छित हो गईं थीं॥२७॥

कालात् संज्ञां पुनरुपगता मातरः प्रोचुरेवम्,
यातायां त्वय्यपि खलु सुते कोऽस्तु नः प्राणबन्धः।
नाना रामं कथमपि न ते नोऽपि वा जीविताशा,
जाने देहि त्वमनुवचनं चाद्य याचामहे त्वाम्॥२८॥

कालान्तर में पुनः चेतना में आकर मुझसे इस प्रकार कहने लगीं – पुत्री! तुम्हारे भी वन को चले जाने पर हमारे प्राणों का सहारा क्या होगा? राम के बिना तो कैसे भी तुम्हारे और हमारे जीवन की क्या आशा की जाये? यह सब मैं जानती हूँ, पर बेटी, हम तुमसे याचना करते हैं, तुम हमें एक वचन दो॥२८॥

पृच्छेयुश्चेत् पथि प्रियसुते ग्रामवध्वः कदाचिद्,
जीवन्तीनामपि न कतमाऽवारयत्ते प्रयाणम्।
ब्रूहि त्वं ता दिवमुपगतास्तासु नैकाऽवशिष्टा,
रोद्धुं काऽऽसीदिति प्रतिपलं जातु नो विस्मरामि॥२९॥

जब वन जाते हुए मार्ग में तुम्हें कभी ग्राम्य वधूएँ मिल जायें और वे तुमसे पूछने लगें कि तुम्हारी तीन-तीन सासुओं के जीते हुए क्या एक भी सास ने तुमको वन जाने से नहीं रोका और भेज दिया। तो बेटी! तुम उन्हें उत्तर देना- मेरी सभी सासुएँ मर चुकीं थी, कोई जीवित ही न रही तो रोकता कौन? यह दृश्य घटना मुझे प्रतिपल याद आती रहती है, मैं इसे भूल नहीं पाती॥२९॥

जानामि त्वां प्रणयि-हृदयं कोमलं प्राणनाथ!
लोकस्तावत् कथयति मृषा लोकभीरोः कठोरम्।
मत् सम्बन्धे क्षणमपि सखे चिन्तनं नैव कुर्याः,
चिन्ताभारं वहति जनको नूतनोऽयं महर्षिः॥३०॥

हे प्राणनाथ! मैं तुम्हारे प्रणयि हृदय को जानती हूँ कि वह अति कोमल है, परन्तु मुझे वनवास देने के कारण लोकभीरु तुम्हारे हृदय को संसार मिथ्या ही कठोर कहता है। सखे! मेरे सम्बन्ध में तुम क्षण भर को भी चिन्ता मत करना, क्योंकि ये नूतन पिता महर्षि बाल्मीकि मेरे चिन्ता-भार का वहन कर रहे हैं॥३०॥

जातोऽवश्यं विकलमनसो मेऽपराधस्तदानीम्,
मुक्त्वाऽकस्मात् प्रतिनिववृते देवरो लक्ष्मणो माम्।
यस्मिन् काले समदिशदयं नाऽपि नाथानुदेशम्,
निःस्वाऽमुञ्चं विपदि विवशा कान्दिशीकाश्रुधाराम्॥३१॥

हाँ, व्याकुल-मन मुझसे तब यह अपराध अवश्य हो गया था, जब मेरे देवर लक्ष्मण मुझे वन में अकस्मात् रथ से उतार कर लौटने लगे थे और जिस समय उन्होंने आपका अनुदेश भी नहीं बताया, तब विपत्ति में विवश होकर अश्रुधारायें परवशा मेरी आंखों से फूट पड़ी थी॥३१॥

तस्मिन् काले त्वरयति रथे प्रत्ययोध्यां सुमित्रा-
मातुः पुत्रः सपदि सहसाऽनोदयत् स्यन्दनाश्वान्।
किन्त्वश्वास्ते मयि धृतदृशः सेहिरे काशघातान्,
चीत्कारो मे हा परवशो निःसृतः शुश्रुवुस्ते॥३२॥

उस समय माता सुमित्रा के पुत्र मेरे देवर अयोध्या के प्रति रथ मोड़ने में शीघ्रता कर रहे थे और सहसा रथ के घोड़ों को उन्होंने चाबुक लगाया, किन्तु रथ के घोड़ों की आँखें मेरे मुख पर एक टक लगीं हुईं थीं, वे कशाघातों को सहते रहे, हा! तब मुझ परवशा के मुँह से सहसा निकली चीख उन घोड़ों ने सुन ली॥३२॥

अत्यायासे विकलविवशाः स्यन्दनाश्वास्तदानीम्,
साकेताध्वोपगमन-मनोवृत्तयो नो बभूवुः।
वल्गाकर्षे कथमपि चलन्तो मुटित्वा मुटित्वा,
खिन्नां दीनां रघुकुल-वधू-निःस्वतां मेनिरे ते॥३३॥

उस समय देवर द्वारा बार-बार बहुत प्रयास करने पर भी रथ के घोड़े साकेत को जाने वाले मार्ग पर चलने के लिए अपने मन को तैयार नहीं कर पाये। लगाम बार-बार खींचने पर जैसे-तैसे लड़खड़ा

कर चलते हुए और मुड़-मुड़ कर मुझे खिन्न देखकर उन्होंने मुझ दीन रघुकुल वधू की सारी विवशता को समझ लिया॥३३॥

मन्दं मन्दं प्रतिपदमिमे संव्रजन्तः सरण्याम्,
न्याय-प्रेम-प्रकृति-नृपतिं वै उपालब्धुकामाः।
आर्यां चर्यां न खलु चरितो लक्ष्मणव्यावहारः,
यद् वञ्चित्वा विजनविपिने मैथिलीं हा मुमोच॥३४॥

फिर उस मार्ग पर प्रत्येक पद मन्द-मन्द रखते हुए इन अश्वों ने न्यायप्रिय स्वभाव वाले राजा राम से उपालम्भ (शिकायत) करने का निश्चय कर लिया कि आपके भाई लक्ष्मण का व्यवहार और चरित्र आर्य-मर्यादा के अनुरूप नहीं था, जो कि-हाय! धोखा देकर निर्जन वन में मिथिलाधिप की निरीह पुत्री को रथ से उतार दिया।॥३४॥

आ-पृष्टः सन्नपि प्रतिवचो लक्ष्मणोऽयं ददौ नो,
तस्मिन् काले सलिलसरितां लोचनाभ्यां विमुक्ताम्।
चीत्कारं वा प्रहतमनसः स्यन्दनाश्वास्तदानीम्,
प्रत्यक्षं वै ददृशिम हृदो वाऽन्वभूम व्यथां च॥३५॥

इन आपके भाई लक्ष्मण ने जनक नन्दिनी द्वारा कारण पूछने पर भी कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया, तब सीता की आँखों से जलधारा निकल पड़ी। उन आँसुओं और हताश मन से निकले चीत्कार को हम अश्वों ने प्रत्यक्ष देखा है, और सुना तथा जनकनन्दिनी की व्यथा की अनुभूति भी की है॥३५॥

मर्यादाप प्रभुवर! भवान् जातु चिन् निःस्वतायाः,
स्वामिन्या नो हरिणनयनाभ्यां स्रवद्वारिधाराः।
अद्रक्ष्यच् चेद् रविकुल-वधू-तप्त-हृत्तीव्रतापैः,
शीतं हैमं हृदयमपि वश्चाद्रविष्यत्तदानीम्॥३६॥

हे मर्यादापालक प्रभुवर! कदाचित् आप उस अपनी सुधबुध भूली हुई हमारी स्वामिनी के भोले हरिण-नयनों से प्रवाहिल जल-धारा को देख लेते, तो सूर्यवंश की विरह-तप्त- हृदया सीता के तीव्र तापों से आपका शीतल-हिम-तुल्य हृदय भी पिघलकर उस समय अवश्य बहने लगता ॥३६ ॥

इति वने निर्वासितायाः सीताया अन्तर्व्यथायाम् निर्मलार्थदीपिका समाप्ता ॥

आश्रमवासिनां दशा (२)

अद्याऽऽयाता दिनकर-कुल-ज्योतिरेका सुधन्या,
सीता नाम्नी परमतपसस्तद्-विदेहस्य कन्या।
वन्या वृक्षा मृदुलहरिणाः पक्षिणः सप्रमोदम्,
सज्जीभूय प्रभवत समे स्वागतीकर्त्तुमुत्काः ॥१॥

आज सूर्यवंश की एक ज्योति, परमतपस्वी विदेह की सीता नाम्नी सुधन्या कन्या यहाँ आश्रम में आई हुई है। हे वन के वृक्षों! मृदुलमृगों और पक्षियों! तुम सभी उसका स्वागत करने के लिए समुत्कण्ठित और सुसज्जित हो जाओ ॥१॥

आयातायां जनक-तनयायामृषेराश्रमेऽस्मिन्,
पश्चाद् राजा रघुकुल-मणिश्चागमिष्यत्यवश्यम्।
कल्याणं स्वं कलयितुमृषेर्दर्शनेन प्रकामम्,
आतिथ्यं सा किल परभृता कर्त्तुमाराच्चुकूज ॥२॥

ऋषिवर बाल्मीकि के इस आश्रम में महाराज जनक की पुत्री सीता के आ जाने पर, पश्चात् यहाँ रघुकूल-भूषण भगवान् राम भी अवश्य आयेंगे। ऋषिवर के दर्शनों से वे अपना कल्याण करने के लिए आश्रम के अतिथि होंगे। देखो, उनका आतिथ्य करने के लिए वह परभृत (कोयल) कूकने लगी है ॥२॥

तस्मिन्नेव क्षण इह मनोज्ञानवित् सारिका सा,
मौनीभूता रघुकुल-वधू-मानसाधीति-मग्ना।
वाल्मीकिं वाऽप्यपगत-मनो-मोद-धारा-प्रवाहम्,
वीक्ष्योवाच व्यथित-मनसा नैष हर्षस्य कालः ॥३॥

उसी समय वह मनोविज्ञान की पण्डिता सारिका (मैना) मौन बैठी हुई रघुकूलवधू की मनः स्थिति का चिन्तन करने लगी और

महर्षि बाल्मीकि के मनो-मोद के धारा प्रवाह को अवरुद्ध देखकर बोली कि यह हर्ष और उल्लास का समय कदापि नहीं है ॥३ ॥

सिंहस्तावत् सरल-सुदृशा खिन्न-दीनां मृगीं ताम्,
दृष्ट्वा जातो दयित-हृदयःसन्त्यजन् स्वं मृगव्यम्।
सिंही नाद्यं धृतमपि पुरो गर्भिणी च क्षुधार्त्ता,
अश्नातीति व्यथिति-विमना मुञ्चती हाश्रुधाराम्।।४।।

देखो - वह सिंह, सहमी, खिन्न और दीन मृगी को सरल देखकर हृदय में दया भर लाया और शिकार को छोड़ रहा है। गर्भिणी सिंहिनी क्षुधार्त होकर भी सामने उपस्थित भक्ष्य को नहीं खा रही है। व्यथित और विमन होकर अश्रुधारा बहाने लगी है ॥४ ॥

अद्यास्माकं कुलपतिर्ऋषिर्नाप्यतिष्ठत् समाधौ,
उद्विग्नः सन् भ्रमति परितो द्रुच्युतां तां तु वल्लीम्।
चिन्ता-रेखा व्यथयति च मां म्लायमाने मुखेऽस्य,
नेत्रेऽप्यार्द्रे करुण-करुणं मन्त्रयेते रहस्यम्।।५।।

सब सोच रहे थे कि आज हमारे कुलपति महर्षि भी समाधि में नहीं बैठे। बड़े उद्विग्न हो वृक्ष से नीचे गिरी हुई लता के चारों ओर चक्कर काट रहे हैं। म्लायमान ऋषिवर के मुखमण्डल की चिन्ता की रेखा सभी को व्यथित करने लगी, देखते-देखते उनके नेत्र भी आर्द्र हो गए, मानो उनके नेत्र परस्पर किसी अतिकरुण विषय पर मन्त्रणा कर रहे हों ॥५ ॥

रुद्धोऽकस्मात् सपदि विपिने कुड्मलानां विकासः,
भीताः स्तब्धा नवलकलिका न स्मितिं संश्रयन्ते।
फुल्लत्येव प्रतिदिवसवत् पाटला नाद्य कस्मात्,
भीतो भीतः किल चलदलोऽप्याश्रमे कम्पतेऽद्य।।६।।

अकस्मात् शीघ्र ही विपिन में नवकलियों का विकास रुक गया, डरीं-डरीं स्तब्ध सी नई विकसित कलियाँ मुरझाने लगी है। आज न जाने क्योंकर प्रतिदिन की भांति पाटला (गुलाब) वल्लरी नहीं खिल रही है और यह चलदल (पीपल) न जाने किससे सहमा हुआ काँपने लगा है ॥६॥

व्यस्मार्षुर्हाऽऽश्रम-परिसरे वर्हिणो नर्त्तनं स्वम्,
कुट्यास्तीरे जलभृतदृशस्ता हरिण्यः समन्तात्।
पश्यन्त्यो वै ऋषिवर-मुखं पूर्ववन्न प्रसन्नम्,
सीतां दृष्ट्वाऽऽनतनयनतोऽमुञ्चदब-विप्रुषोऽयम्॥७॥

आश्रम परिसर में मोरों ने अपना नृत्य भी भुला दिया, कुटी के किनारे डबडबाई आंखों से हरिणियाँ ऋषिवर के मुखारविन्द को पूर्व की भांति प्रसन्न नहीं देख रहीं हैं और ऋषिवर ने भी सीता को देखकर अपने नतनयनों से कुछ जल बिन्दु टपका दिये॥७॥

मीनस्तावच्चकित-चकितो राजहंसस्तथैव,
कोकः शोकं श्रयति सततं चातकी हा तृषार्त्ता।
'पीऊ पीऊ'रटति सुतरां विप्रलब्धेव सीता,
पातुं श्यामाम्बुद-रघुवरस्येक्षण-स्वाति-बिन्दुम्॥८॥

आज मछलियाँ भी अचञ्चल और स्तब्ध हैं, राजहंसों की गति भी कुण्ठाग्रस्त है, कोक पक्षी भी शोक विह्वल है, चातकी भी आज प्यासी ही है और वियोग-व्यथित सीता सी 'पीऊ-पीऊ' ही रट रही है, वह मानो श्यामल घनच्छवि वाले रघुवर के दर्शनों की स्वातिबून्द पीने को लालायित है॥८॥

कस्मात् सूर्यो रघुकुल-मणिर्भाति नाऽयं प्रभाते,
मन्येऽम्भोदाश्रुजल-पटलाच्छादितं चास्यमस्य।
उत्प्रेक्षेऽहं सपदि विपदा-राहुणा ग्रस्यमानः,
जातः कस्मात् स्वयमसमये सूर्यवंशस्य नाथः?॥९॥

आज न जाने क्यों? प्रतिदिन की भांति प्रभात में रघुकुलमणि सूर्य की आभा नहीं चमकती? निश्चय की बादलों के अश्रु-जल-पटल से भगवान् सूर्य का मुखमण्डल आच्छादित हो गया है। मुझे लग रहा है कि असमय में सूर्यवंश के स्वामी किसी विपदा राहू से ग्रस्त हो रहे हैं ॥९॥

पीता जाता हरितिमभृताः पल्लवाः पादपानाम्,
वाता नाद्य व्रतति-ततिभिः कुर्वते नाट्यखेलाम्।
सीतायाः स्वं शिरसि वरदं हस्तमाधृत्य वाग्मी,
पुत्रीत्युक्त्वाश्रुकणनयनः स्तब्ध एवावतस्थे॥१०॥

अभी-अभी हरियाली से भरे हुये वृक्षों के पत्ते अकस्मात् पीले पड़ गए, हवायें भी आज वल्लरियों से अटखेलियाँ नहीं कर रहीं हैं। मैथिली के शिर पर महर्षि-वाल्मीकि वरद-सान्त्वना हस्त रखकर पुत्रि! केवल इतना ही कहकर आँखों में जल की कुछ बून्दें भरे स्तब्ध खड़े रह गए हैं॥१०॥

किञ्चित् कालात् सयतनमृषिर्वाष्पकण्ठावरोधम्,
संसाध्य द्राक् किल करतलेनाश्रु-विन्दून् प्रमृज्य।
ऊचे पुत्रि व्यसन-ततिभिर्वर्जितो नैव कश्चित्,
प्राग् जन्माप्तं कृतमिह नृणाऽवश्यभोक्तव्यमेव॥११॥

कुछ काल तक तो ऋषिवर ने बड़े यत्न से आँसुओं को कण्ठ में ही रोका, पर शीघ्र ही आँखों में आये आँसुओं को करतलों से पौंछकर बोले- बेटी! संसार में भला, आपदाओं से कौन बच पाया है, पूर्व जन्म में किये कर्मों के फल तो सभी को अवश्य भोक्तव्य हैं।॥११॥

कल्याणि त्वं निज-पितृ- गृहं प्रापिता दैवयोगात्,
वात्सल्याङ्को मम तु भवतात् पालना त्वत्प्रसूतेः।

अश्र्वम्भोधि-ब्रुडित-मनसो मातरो भ्रातरस्ते,
वीक्षेऽन्तर्दृङ् नहि किल लभे रामभद्रव्यथान्तम्॥१२॥

हे कल्याणि! तुम आज दैव-योग से यहाँ अपने पिता के घर पहुँच गई हो, मेरे वात्सल्य की गोद तुम्हारी सन्तान की पालना बनेगी। मैं दिव्य अन्तर्नेत्रों से देख रहा हूँ कि तुम्हारी माताएं और भाई देवर आँसुओं के समुद्र में डूबे रहते हैं, पर रामभद्र की व्यथा का अन्त मुझे दिखाई नहीं पड़ा॥१२॥

रामो नित्यं श्रयति सुतरां दर्भविस्तीर्णशय्याम्,
त्वच्चिन्तायां विकल-विकलो भूपतिः सन् पृथिव्याम्।
स्वप्ने पश्यन्ननिशमवलां प्रोषितामेकलां त्वाम्,
'आयामि द्राग् धृतशरधनुर्नो बिभेहीति' वक्ति॥१३॥

सीते! तुम्हारी चिन्ता में अत्यन्त विकल राम राजा होते हुये भी भूमि पर ही दर्भों(दाभ) के शय्यासन पर नित्य आश्रय लेते हैं और स्वप्न में अकेली वन में प्रोषित अबला तुमको निरन्तर देखते हुये कहते रहते हैं "सीते! वन में डरना नहीं, लो, मैं धनुष वाण लेकर शीघ्र आ रहा हूँ।"॥१३॥

रामस्यैवं मम तु जननी काननावासमूचे,
सीते कस्मादिदमुपगता निर्जनं काननं त्वम्।
स्वप्ने ध्यायन् रजकवचनं भीरुरामोऽनुतेपे,
साकेतं त्वं चल इति वदन् राघवोऽनिद्रितोऽभूत्॥१४॥

मुझ राम की माता कैकेयी ने तो मुझे वनवास दिया था, सीते! तुम क्योंकर इस वन में आ गईं, तुम अयोध्या को चलो। फिर लोकभीरु राम स्वप्न में ही धोबी के वचन को याद करते हुए अनुताप में डूब गए और इतना कहकर उनकी आँख खुल गई॥१४॥

क्षन्तव्योऽहं मम प्रियतमे त्वां न वाऽऽयामि नेतुम्,
घोरां पीडां तव विरहजां वै सहिष्ये विहस्तः।

आयातायां त्वयि जनकजे रामवामाङ्गभागे,
वामीभूता जनकतनयाऽऽराम-कामाः समेपि॥१५॥

फिर राम कहने लगे- "प्रियतमे सीते! तुम मुझे क्षमा करना, मैं तुम्हें लेने नहीं आ रहा हूँ, मैं व्याकुल रहकर ही तुम्हारे विरह की पीडा को सहूँगा। हे महाराज जनक की पुत्रि! राम के वामाङ्ग भाग में आते ही जनक दुलारी के समस्त आराम व कामनाएँ भी वाम (विपरीत) हो गईं।"॥१५॥

हा हाऽकस्माद् रघुकुल-वधू रामभूपस्य पत्नी,
नोक्त्वा किंचिद् विजनगहने चैकवासा विमुक्ता।
वक्षो दीर्णं तदपि नतरां क्रूरदैव त्वदीयम्,
दुःखौघं सा जनकतनया सोढुमागान्निरागाः॥१६॥

हा हा! रघुकुल की वधू और राजा राम की पत्नी विना कुछ कहे हुए निर्जन वन में केवल एक वस्त्र धारण किये छोड़ दी गई। मेरे क्रूर भाग्य (दैव + यम)! तब भी तुम्हारी छाती विदीर्ण नहीं हुई और जनकदुलारी निरपराध होकर भी दुःख समूह को सहने के लिए वन में भेज दी गई॥१६॥

एषा व्याघ्री द्रुतमुपगता प्रस्नुता शावकं स्वम्,
किन्त्वेषोऽपि क्षुधित इह नो स्तन्यपानोत्सुकोऽभूत्।
सीतां पार्श्वे सततमशनायाकुलां वीक्षमाणम्,
दृष्ट्वा साऽपि द्रवितहृदया चाश्रुधारां मुमोच॥१७॥

अपने शावक (पुत्र) को देखकर जिसके स्तनों में दूध उतर आया वह व्याघ्री शीघ्र ही यहाँ आ गई, यह शावक भी भूखा है, किन्तु यहाँ यह आज दूध पीने में उत्सुक नहीं हो रहा है, क्योंकि वह पास में सीता को क्षुधाकुल देख रहा है। इसे देखकर बाघिन का हृदय द्रवित हो आँसू बहाने लगा॥१७॥

नश्यन्त्यस्याः कलुष-निवहाः पुण्य-सन्दर्शनेन,
यस्याः स्पर्शे भवति परमः पावनः पावकोऽपि।
आरोप्या स्यात् कथमिह पुनर्वह्नि-शाणेऽपि सीता,
वामा जाता सपदि सहसा वेधसः सृष्टिरेषा॥१८॥

जिसके पुण्य दर्शनों से पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं, जिसका स्पर्श कर पावक (अग्नि) भी परम-पवित्र हो जाता है। हा! वह सीता भी आज क्योंकर आग की शाण (कसौटी) पर आरोपित की जा रही है? आज ब्रह्मा की यह समस्त सृष्टि वाम हो गई है।।१८॥

सीतां दृष्ट्वा भवति सुलभा राघवं शप्तुमिच्छा,
किन्त्वीक्षेऽहं रघुपतिरयं मे दयापात्रमेव।
सीता-दुःखं तुलयितुमलं नैव रामस्य वाऽहम्,
अन्योऽन्यस्याधिकतरमिदं मे मुनेरप्यसह्यम्॥१९॥

आज सीता की दशा देखकर मुझे राघव को शाप देने की इच्छा सुलभ हो रही है, किन्तु मैं (वाल्मिकी) योगबल से अन्तर में देखता हूं, तो निरीह राम सर्वथा दया का पात्र है। मैं सीता और राम के दुःख को न तोल सकता हूँ और न उसकी तुलना कर सकता हूँ, क्योंकि एक-दूसरे का दुःख एक-दूसरे से अधिक है, जो मुझ विरक्तमुनि के लिए भी असह्य है।।१९॥

शैव्या दुःखव्यतिकरमसौ धारयित्वाऽपि भाग्ये,
पत्युः प्रेमाऽऽभरित-सुखद-स्निग्ध-संरक्षणेऽभूत्।
लेभे तादृक्-तनयजननाऽमेयमानन्दमेव,
सीता किन्तु प्रसवसमये निर्निकेता वनेऽस्मिन्॥२०॥

वह शैव्या भाग्य में दुःख समूह को धारण करके भी पति (सत्य हरिश्चन्द्र) के प्रेम-पूर्ण सुखद संरक्षण में तो रही और तभी पुत्र जन्म के अपरिमित आनन्द को भी पा सकी, परन्तु सीता प्रसव-समय होने पर घर से बाहर वन में छोड़ दी गई॥२०॥

इति आश्रमवासिनां दशायां निर्मलार्थ-दीपिका समाप्ता॥

वनवासिनां चिन्ताचक्रम् (३)

कस्यायं करुणामृतः स्वर इतः साकं समीरेण वा,
वीणाया व्यथया च भञ्जयति कस्तारान् गुणान् निर्दयम्।
कस्मात् प्रच्यविताऽर्चनाक्षत-युता स्थाली कराभ्यां मुहुः,
वाल्मीकेर्ऋषिपुङ्गवस्य च धृतिर्दोलायमाना कथम्?॥१॥

वायु के झौंकों के साथ करुणा से भरा हुआ यह किसका स्वर वीणा के तारों को अपनी व्यथा से निर्दय होकर भञ्जित कर रहा है? पूजा के पुष्पाक्षतों से सज्जित यह थाली हाथ से क्योंकर छूट पड़ी? ऋषि पुंगव वाल्मीकि का धैर्य दोलायमान क्यों हो रहा है?॥१॥

कस्मात् त्याग-तपो-विराग-धरणिर्ह्योषाऽऽश्रमस्याधुना,
आक्रन्दाकुलताऽनुताप-विमनो- मोहस्थली जायते।
कस्या एष स्वरस्तपोधनमुनेर्बध्नाति किं मानसम्?,
वैदेह्यग्नि-परीक्षितापि च पुनर्हाहा कषे रोप्यते॥२॥

त्याग, तपश्चर्या और वैराग्य की यह आश्रम धरती अब क्योंकर आक्रन्दन (रोदन), व्याकुलता, अनुताप, खिन्नता और मोह की स्थली बन रही है? फिर किसका यह स्वर तपोधन मुनिवर के मानस को बाँध रहा है? हा-हा! क्या वैदेही एक बार अग्नि में परीक्षित होकर भी पुनः परीक्षा की कसौटी पर आरोपित की जा रही है? ॥२॥

चीत्कारः खलु कस्य दारयति वा वातस्य वक्षस्थलम्,
कस्या वा तमसा-रयं स्थगयते तीव्रं विलापाऽऽरवः।
पीडा कस्य तपस्वि-प्राङ्गणमिदं चापीडयन्ती स्थिता,
कैषाऽऽर्द्रं कुररी-व्यथा विनयते नास्रैर्विधत्स्वाश्रमम्॥३॥

यह किसका चीत्कार वायु के वक्षःस्थल को विदीर्ण कर रहा है या किसी नारी का यह विलापाक्रन्दन स्वर तमसा-नदी के वेग को

स्थगित कर रहा है? किस (पुरुष राम) की पीडा स्थिररूप से इस प्रांगण को आपीडित कर रही है या यह किस कुररी की व्यथा विनय कर रही है कि आश्रम को आँसुओं से गीला मत करो॥३॥

कस्यान्तर्मनसस्त्रुटेर्विकरणं संवेदनायै स्वरम्,
दत्त्वाऽर्केन्दुगतिं मुहुःस्थगयतेऽत्याश्चर्यमेतद् ध्रुवम्।
किं सीतेति प्रतिध्वनिर्व्यथयते मुन्याश्रमाऽऽवासिनः,
शैव्या किन्नु प्रियेण सा पुनरहो न्यासीकृता कस्यचित्॥४॥

यह किसके मन की टूटन या व्याकुलता संवेदना के लिए स्वर देकर सूर्य और चन्द्र की गति को स्थगित कर रही है? यह तो बड़ा आश्चर्य है। क्या "सीता" यह नाम तो आश्रमवासियों को व्यथित नहीं कर रहा है? या यह किसी शैव्या का चीत्कार स्वर है कि कहीं फिर से पति द्वारा किसी के यहाँ न्यास में तो नहीं रख दी गई?॥४॥

हा केनाध्वरपूर्त्तये श्रुतिगता वह्नौ ऋचा हूयते,
सीता तत्-सम-पावनी किल कथा तस्यास्तु हव्या व्यथा।
अन्तारुद्ध-प्रदाह-वह्निगलितः कारुण्यशैलो मुनेः,
वाल्मीकेस्तमसा नदी प्रवहते कारुण्यवारान्निधिः॥५॥

हा हा! आज किसके द्वारा सीता की पुनः अग्नि-परीक्षा का प्रस्ताव रखकर अध्वर (यज्ञ) की पूर्ति के लिए अग्नि में वेद की ऋचा की आहुति दी जा रही है? सीता के समान ही तो उसकी कथा भी पावनी है, तो उस कथा की नहीं, प्रत्युत उसकी व्यथा की आहुति देनी चाहिए। मुनिवर वाल्मीकि का कारुण्य-पर्वत उनके अन्तरूद्ध प्रवाह की आग से पिघलकर तमसा नदी के रूप में मानो करुणा का समुद्र ही प्रवाहित हो रहा है॥५॥

इति वनवासिनां चिन्ताचक्रे निर्मलार्थदीपिका समाप्ता॥

सीताया अन्तर्द्वन्द्वम् (४)

जानेऽहं स तु राजधर्म-नियमाऽऽबद्धोऽवशो व्याकुलः,
निन्दावादनिराकृतेर्न प्रणयस्याल्पत्वहेतोर्वनम्।
दुःखी कां निरवासयत् प्रियतमां सोढुं वियोग-व्यथाम्,
शक्तो नाधृतिमान् विषण्णहृदये शश्वत् स्वयं राघवः ॥१॥

मैं अच्छे प्रकार जानती हूँ कि वे राघव राज धर्म के नियम में आबद्ध अतएव विवश और व्याकुल हैं। निन्दावाद के निराकरण के लिए ही मुझ प्रियतमा को दुःखी होकर वन में निर्वासित किया है, प्रेम की न्यूनता के कारण से नहीं। वे अति अधीर हो गए है और मेरी वियोगव्यथा को सह सकने में असमर्थ है ॥१॥

कस्माद् वा रघुवंशभूषणमणिस्तादृङ् न किं विह्वलः,
यादृक् कातरभावमाश्रयदसौ रक्षो-हृतां जानकीम्।
अन्विष्यन् प्रतिवल्लरीं च विटपं पृच्छन्नटव्यां भ्रमन्,
"जाता किन्न भवद्दृशां पथमिता प्राणाधिका जानकी" ॥२॥

रघुवंश भूषणमणि राम क्या इतने व्याकुल अब नहीं है? जैसे कि वे राक्षस द्वारा अपहृत जानकी को खोजते हुए तथा वन में भटकते हुये, प्रत्येक लता और वृक्ष से पूछते थे कि क्या कहीं मेरी प्राणप्रिया जानकी तो आपके नयन गोचर नहीं हुई ॥२॥

अद्याप्युज्झति नैव तस्य दयितं सन् मानसं सा व्यथा,
सीताया लिखिता नृशंस-विधिना दिष्टेर्लिपौ कण्टकाः।
वासो निर्जन कानने पति-वियोगे सर्वदा जीवने,
वामायाः खलु संगमे रघुपतेर्वामो विधिर्निश्चितः ॥३॥

आज भी उनके दयापूर्ण मानस को वह व्यथा छोड़ती नहीं। क्रूर-विधाता ने सीता के भाग्य में तो काँटे और जीवन भर पति के वियोग

में निर्जन वन का वास ही लिखा है। मुझ वामा के साथ में तो रघुपति श्री राम का विधि भी वाम हो गया॥३॥

शून्यं मे शयनं विलोक्य तव हाऽभूत् कीदृशं व्याकुलम्,
चित्तं स्युर्विपिनस्थितेर्मम मुधा दुष्कल्पना भीतिदाः।
धीरं त्वामपि कल्पयामि सहसाऽधीरं भवन्तं पतिम्,
मां वा गर्भवतीं विचिन्त्य विजने कीदृक्-स्थितिस्ते भवेत्॥४॥

मेरे शयन स्थान को सूना देखकर हा! तुम्हारा चित्त कैसा व्याकुल होता होगा? तुम्हारे मन में मेरी वनस्थिति को यादगार कैसी-कैसी भयानक दुष्कल्पनायें उठती होंगी? वैसे तो मैं तुम्हें धैर्यशाली ही समझती हूँ, पर साथ ही मेरे पतिदेव! तुमको सहसा अधीर होने की भी कल्पना करती हूँ। मुझ गर्भवती को निर्जनवन में छोड़ा हुआ ध्यानकर तुम्हारी कैसी स्थिति होगी?॥४॥

आयुस्तद्विरहे त्वमेयमधुना नैवाऽनुमातुं क्षमा,
अस्मिन् जीवन एव वै प्रियपतिं किं वा मिलिष्याम्यहम्।
काको नैव कदाप्युपैति पुरतो रौति क्षणं वा प्रगे,
येनाश्वासनमादधाम्यतिथिवच्चायिष्यते राघवः॥५॥

उन प्राणनाथ राम के विरह के बाद अब मेरी कितनी लम्बी आयु होगी, यह मैं अनुमान नहीं कर पाती। इस जीवन में ही क्या मैं अपने प्रिय-पति से मिल सकूँगी? कौआ भी तो कभी सुबह को सामने बैठकर नहीं बोलता, जिससे मैं अपने अतिथि के आने की प्रतीक्षा कर आश्वस्त होती कि राघव अवश्य आयेंगे॥५॥

प्राणाधारा किल रघुपते चैक पत्नीव्रतस्य
जानेऽहन्ते हृदय-दयितेत्याशु तोषाय मेऽलम्।
त्वत्सान्निध्यं श्रयति सुतरां प्रोषितां मां विदित्वा,
दान्तं किन्तु व्यथयति मुधा दुष्टपीडा सपत्नी॥६॥

हे रघुकुलपते! यह मैं जानती हूँ कि एक पत्नी व्रत तुम्हारी मैं हृदयप्रिया प्राणाधारा हूँ, बस इतना भर मेरे सन्तोष के लिए पर्याप्त है, किन्तु महलों से निकाली वन वासिनी हूँ यह जानकर दुष्ट सौत (सपत्नी) पीडा तुम जितेन्द्रिय कों व्यर्थ ही परेशान करती रहती है॥६॥

पीडे नित्यं मम प्रियसखि! त्वं च सन्देश-नेत्री,
दूती भूत्वा चिरसमयतः प्रेषिता नागताऽसि।
चिन्ताऽऽशंका द्विगुणिततरा मेऽस्ति दर्भासनस्थम्,
जानीयास्ते जितखनिवहं माऽभिशप्याऽन्यथा भूः॥७॥

हे पीडे! तुम मेरी अति चिरकाल से परिचित हो, तुम सन्देश वाहिका दूती बनकर भेजी गई हो, अभी तक वहाँ से लौटकर नहीं आई। मुझे द्विगुणित चिन्ता और आशंका बढ़ रही है। कुशासन, ऋषि और तपस्वियों का आसन है, उस पर बैठे हुए जितेन्द्रिय राम को अच्छी प्रकार समझ लेना, अन्यथा तुम मेरे अभिशाप की भाजन मत बन जाना॥७॥

सौभाग्यं लिखितं ललाटपटले सिन्दूररेखां विना,
भाग्ये वारिधिरस्ति लेखित उदन्यायामि धन्वस्थले।
शीर्षोपान्त इहास्ति पारसमणिः किन्त्वाञ्चले मृत्तिका,
सर्वायुस्तुष वह्नि-धूमितमितं कि वाच्यमेवाऽधिकम्॥८॥

मेरे ललाट पटल में विधाता ने अखण्ड सौभाग्य तो लिखा है, परन्तु वह सिन्दूर की रेखा और बिन्दी के शृंगार के बिना ही। मेरे भाग्य में समुद्र तो लिखा है, परन्तु मरुस्थल में रहकर सदा प्यासी ही रहूँगी। यहाँ शिर के पास में ही पारसमणि तो रखी है, पर आँचल में धूलिराशि ही है। मेरी सारी आयु तो ज्वाला रहित फूँस की आग के समान सदा सुलगती धुआँ ही देती रही और मैं इससे अधिक क्या कहूँ?॥८॥

इति सीताया अन्तर्द्वन्द्वे निर्मलार्थदीपिका समाप्ता।

महर्षेश्चिन्तनम् (५)

केयं प्रातः पवन-लहरी कस्य कारुण्य-भारम्।
वैदेहीं तां प्रति ममतया विप्रयोग-व्यथस्य।
नेष्यत्यद्धा विरह-विकलां चानुनेतुं विविक्ते,
दूती भूता स्वयमिह न स प्रैति मुन्याश्रमत्वात्॥१॥

यह प्रातः कालीन पवन की लहरी कौन है? जो किस दुःखी विरही के करुणा-भार को ममता के कारण विरह-विकला विदेह नन्दिनी के पास उससे अनुनय-विनय करने के लिए दूती बनकर ले जायेगी? स्वयं तो वह विरही इस मुनि-आश्रम के नियम-बन्धनों के कारण प्रवेश कर नहीं सकता॥१॥

मर्यादेयं नहि खलु नृपस्यापि सन्देशदानम्,
सम्पद्येताश्रम इह विना तन्महर्षेर्निर्देशात्।
तस्माद् दूती जनक-तनया-हृद्-विपंचीं निराशा,
संस्पर्ष्टुं सा रहसि सहसा साहसं शिश्रिये वा॥२॥

यह इस आश्रम की मर्यादा है कि राजा का भी सन्देश विना महर्षि की अनुमति के अन्दर नहीं आ सकता। इसी लिए तो पवन-लहरी दूती भी जनकतनया के हृदय की वीणा को छूने का एकान्त में भी साहस न कर सकी, निराश हो गई॥२॥

कस्माद् धीर-प्रकृति मनसः कम्पितात् पाणिपद्मात्,
रुद्राक्षस्रक् सपदि पतिता धैर्य-सम्पन्-महर्षेः।
कस्यैतावद् व्यथित-हृदयस्याकुलत्वं विदूरात्,
योगस्थल्यां वपति विषमं दुर्विषह्यं विषादम्॥३॥

धीर प्रकृति वाले, मनस्वी, धैर्यधन-महर्षि के कर कमलों से रुद्राक्ष की माला सहसा क्यों छूट पड़ी? यह किस हृदय की व्याकुलता

बड़ी दूर से भी इस योगसाधना-स्थली में असह्य विषम विषाद के बीज बो रही है?॥३॥

सीता-पीडा व्यथयतितरां मानसं योगिनोऽपि,
रामस्यापि व्यथितिममितां चानुचिन्तन् महर्षिः।
चिन्तारज्ज्वाऽवशनिगडिताऽऽकृष्ट एव प्रपेदे,
स्वास्रैः सिञ्चन्नपि नहि धरां सिञ्च पुत्रि! त्वमूचे॥४॥

सीता की पीडा योगी के मन को अत्यन्त व्यथित कर रही है, राम की अपरिमित व्यथा का अनुचिन्तन करते हुए महर्षि चिन्ता की रज्जु से बँधे हुए विवश से इधर आ रहे हैं, अपने आंसुओं से आश्रम-भूमि को सीचते हुए भी कहने लगे 'पुत्रि' सीते! तुम आँसु मत बहाओ॥४॥

इति महर्षेश्चिन्तने निर्मलार्थदीपिका समाप्ता ॥

नैतावद् विलप मनः (६)

नैतावन् मे मन इह रुदन्नाश्रमस्याङ्गणे ऽस्मिन्,
धृत्या बन्धं क्षिणुहि तपसां धैर्यसंसाधकानाम्।
मच्चिन्ताग्निर्दहति सुतरां राघवं निष्कलङ्कम्,
नैतान् दुःखे ब्रुडय सकलानेकलाऽहं सहिष्ये॥१॥

हे मेरे मन! इस आश्रम के आँगन में इतना अधिक रोकर धैर्यसाधक ऋषियों के धीरज के बाँध को मत तोड़ो। मेरी चिन्ता की आग निष्कलंक निरपराध राघव को जला रही है- अन्य इन सारे वनवासियों को दुःख सागर में मत डुबाओ, मैं अकेले ही सारा दुःख सह लूँगी॥१॥

जन्मस्मृत्यां स्फुरति जलदे सा कथा दामिनीव,
क्षेत्रं कर्षन्नलभत च मां यत्तु राजा कृषाणः।
मृत्स्ना-नीचैस्तमसि जननी भाविलोकाप वादात्,
स्वास्रैः सिक्तां विपदि विवशा साध्वगोपायदाशु॥२॥

मेरी स्मृति में मेरे जन्म की कथा आज भी बादलों में बिजली के समान कौंध जाती है कि राजा जनक ने किसान बनकर खेत जोतते हुए मुझे भूमि में पड़ा देखा, भाविनी लोकनिन्दा के भय से विपद्ग्रस्त विवश मेरी माँ (जन्मदात्री) अन्धेरे में ही मुझे अपने आँसुओं से नहलाती हुई जल्दी से मिट्टी में दबाकर चली गई थी॥२॥

पीडात्रासं स विधिरलिखद् यत्विदानीन्तनं च,
भाग्ये भोक्तुं तदहमधुना जीवितैवावशिष्टा।
तस्मिन् काले करुण-करुणं चालुलोकेऽस्मदीयो,
वंश-त्राता किरणनयनैर्मूक-वात्सल्य-भावे॥३॥

विधाता ने इस समय के पीड़ा त्रास को मुझे भोगने के लिए मेरे भाग्य में लिखा, वह मैं अब भी जीवित ही बनी रही। मिट्टी में दबी पड़ी मुझे मेरे वंशत्राता भगवान् सूर्य ने मूक-वात्सल्य-भाव में करुणा भरे किरण नयनों से देखा था॥३॥

प्रातः काले विमल-पवनः प्राण-सञ्चारमाधात्,
यावद् रात्रिस्तिमिरमसितं प्रावरं स्वं चुकोच।
अल्पालोके कृषक-सहजा मन्मुखे दृक् पपात,
सास्राश्चर्योत्सुककरुणयोद्धृत्य मामुद्दधार॥४॥

उस सवेरे निर्मल पवन मुझमें प्राणों का सञ्चार करता रहा, जब तक रात्रि ने अपने काले तिमिर की चाँदनी को समेट लिया, अल्प प्रकाश में कृषक की दृष्टि मेरे निरीह मुख की छवि पर पड़ी और उसकी डबडबाई आँखों की आश्चर्य और उत्सुकता पूर्ण करुणा ने मुझे भूमि से उठाकर अपनी गोद में ले लिया॥४॥

आलोक्यास्यं मृदुल-मधुरं सौम्य-लावण्य-रम्यम्,
राज्ञ्या राज्ञो हृदयकलिका संविकासं ह्युपागात्।
प्राप्यैतां वा प्रशमनमगादात्मजाऽभाव-पीडा,
के वा न स्युः परमसुखिनोऽभीष्ट-सिद्धिं-प्रसाध्य॥५॥

कोमल, मधुर, सौम्य और लावण्य से परिपूर्ण बालिका को देखकर उस राजा और रानी की हृदय कलिका खिल गई एवं सन्तानाभाव की इनकी पीडा का उपशमन हो गया। सच है 'अभीप्सित सिद्धि को प्राप्त करके भला किसके हृदय को परमशान्ति नहीं मिलती'॥५॥

बाल्यं यातं जनकनृपते रम्य-हर्म्येषु सौख्ये,
सर्वैश्वर्य-प्रमद-प्रकृतौ लालने पालने मे।
किन्तु श्यामाम्बुद-घनतरच्छाय-रामाङ्क-शैत्यम्,
मद्-दुर्भाग्य-ज्वलन-प्रकृतिर्न क्षणं हा विषेहे॥६॥

मेरा बचपन राजा जनक के महलों में सब ऐश्वर्य से परिपूर्ण सुख में व्यतीत हुआ, किन्तु मेरे दुर्भाग्य की ज्वलनशील प्रकृति ने क्षण-भर को भी साँवले बादलों की छाया के समान राम की गोद की शीतलता को नहीं सहा॥६॥

एतद्-वंश प्रथम-पुरुषो भास्करोऽयं नभःस्थः,
नास्यां द्रष्टुं क्षमत इह मां दुर्दशायां विपन्नाम्।
तस्मात् प्रातः कुहर-पटलैराननं मण्डलं स्वम्,
प्राच्छन्नं हाऽपरमिह न वालम्बनं ते जगत्याम्॥७॥

इस वंश के प्रथम-पुरुष आकाश में स्थित भगवान् सूर्य मुझ विपद्ग्रस्ता को इस दुर्दशा में देखने का साहस न जुटा सके। उन्होंने कुहरे की घटाओं के आवरण से अपने मुखमण्डल को ढक लिया। हा! अब तो मेरा इस जगत् में कोई दूसरा अवलम्ब भी नहीं है॥७॥

आमावास्ये तिमिरपटले ह्लादकारीन्दुतुल्यम्,
हेमन्तेऽस्मिन् कुसुमित-हरित् पल्लवोऽयं वसन्तः।
फेर्वादीनामशिवरमणे काकली वा पिकस्य,
कुक्षिस्थं मे रघुकुलमहश्चैकलाशावलम्बः॥८॥

हाँ, अमावस्या के घोर अन्धकार पटल में प्रसन्नता देने वाले चन्द्रमा के तुल्य, इस (विपदा के) हेमन्त के कुसुमित हरित किसलय वाले बसन्त जैसा, इस वन में श्रृगाल आदि श्वापदों के अशुभ शब्दों के बीच में कोयल के काकली के स्वर माधुर्य जैसा, मेरी कोख में स्थित रघुकुल का तेज ही अब अकेला मेरी आशाओं का अवलम्ब है॥८॥

इति नैतावद्दिलप मनः इति शीर्षके निर्मलार्थदीपिका समाप्ता॥

आश्रम-माङ्गल्योन्मेषः (७)

वृद्धामाताऽऽश्रमपरिजनानां शिवाकांक्षिणी सा,
रात्रौ शेतेऽन्तिक इह मम स्वं कुटीरं विहाय।
रक्षादृष्टिं मयि प्रतिपलं सावधाना निवेश्य,
ब्रूते वत्से श्रममपहरेः सिञ्चने पादपानाम्॥१॥

आश्रमवासिपरिजनों की कल्याणकांक्षिणी वह बूढी माँ अपनी कुटिया को छोड़कर आजकल यहीं मेरे पास सोया करती हैं। बड़े सजग और सावधान हो मुझ पर संरक्षण दृष्टि रखकर कहा करती है "बेटी सीते! वृक्षों के सींचने में तुमको अधिक श्रम से बचना चाहिए"॥१॥

वारं वारं दिशति तनये नैवमस्यां दशायाम्,
चिन्ता कार्या क्षणमपि च नो त्वं प्रसादं लभस्व।
कुक्षिस्थन्ते सुषमित-सुमं सौरभं तावदेतत्,
त्रैलोक्ये वै सुतनु तनुयात् सर्वगन्धातिशायि॥२॥

वे बार-बार निर्देश करती हैं पुत्रि! इस (गर्भ) स्थिति में तुम्हें क्षण भर को भी कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए, तुम सदा प्रसन्न रहा करो। तुम्हारी कोख में यह एक सुन्दर पुष्प का सौरभ है। इस सर्वलोकातिशायी सुगन्ध की त्रिलोकीनाथ रक्षा करेंगे॥२॥

धैर्यं रक्ष प्रिय मम सुते जातु मा व्याकुला भूः,
एषा पीडा भवति नितरां मातृभावाऽनिवार्या।
कुक्षेः सूतोऽप्रतिम-महसा सर्वशोकव्यथानाम्,
हर्त्ता नूनं रघुकुल-मणिर्भास्करोऽयं तमोहा॥३॥

मेरी प्यारी बेटी! तुम धैर्य रखो, व्याकुल मत होओ, माता बनने के लिए यह (प्रसव) पीडा प्रत्येक को अनिवार्य है, तुम्हारी कोख

से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने अप्रतिम तेज से सब शोक और व्यथा रूप अन्धकार को उसी प्रकार नष्ट कर देगा, जैसे यह रघुकुल मणिभास्कर अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देता है ॥३ ॥

मातः! कुर्यास्त्वमपि यतनं चीत्कृतेर्मे व्यथायाः,
शब्दो यायान्नहि खलु मुनेः श्रोत्रमूलं कदाचित्।
किं वा कुर्यां स्फुटति प्रसभं मेऽधराद् रोधितोऽपि,
निद्राभङ्गो भवतु न पुनर्वा समाधिं विहन्यात्॥४॥

सीता बोली "माँ! तुम भी ऐसा यत्न करना, जिससे मेरी असह्य पीड़ा जन्य चीखने का स्वर कहीं मुनिवर के कानों तक नहीं पहुँचे। माँ! मैं क्या करूँ? बलपूर्वक रोकने पर भी मेरे होठों से विवशता में शब्द फूट पड़ता है। कदाचित् पितामह ऋषिवर का निद्राभंग न हो जाये या उनकी समाधि में विघ्न न पड़े" ॥४ ॥

पत्युः स्नेहादभवमचिराद् वञ्चिता दुर्भगाऽहम्,
तद्वत् स्नेहाद् भवति रहितः किं कुटीर-प्रदीपः।
येन द्योतो भवति नितरामल्पशो दीपकस्य,
'नैवं दीपद्वयमुदयते तत् प्रभा-धर्षि चैतत्'॥५॥

माँ! दुर्भागिनी मैं बहुत शीघ्र अपने पति राम के स्नेह से वञ्चित हो गई, उसी प्रकार कहीं यह कुटीर के दीप की बाती भी स्नेह (तेल) से तो वञ्चित नहीं हो रही है, जिससे इसका प्रकाश कम होता जा रहा है। माता ने कहा बेटी! ऐसा नहीं है, अब तुम्हारी कुटिया में अन्य नये दो जुड़वा दीपक उदित हो प्रकाश करने लगे हैं, जिनके तेज से इस दीपक का प्रकाश दब गया है ॥५ ॥

कुट्यास्ते नो क्षुभित-मनसो नङ्क्ष्यतीयं तमिस्रा,
किन्त्वेतस्या अखिलवसुधायास्तमस्तोम एषः।

प्राच्या भास्वत्-प्रखर-महसा केवलं नाश्यते नो,
सर्वाशानां तिमिरमचिरं नाश्यते वै नितान्तम्॥६॥

दुःख और क्षोभ से भरी हुई तुम्हारी ही मानस कुटिया की अंधियारी अब नष्ट नहीं होगी, किन्तु इस सारी वसुन्धरा का ही अन्धकार नष्ट हो जायेगा। देखो न! पूर्व दिशा में उदय होने वाले सूर्य के प्रखर तेज से केवल प्राची दिशा का ही अन्धकार नष्ट नहीं होता, प्रत्युत समस्त दिशाओं का तिमिर पूर्णतया शीघ्र नष्ट हो जाता है॥६॥

पुत्रि प्राच्यां तव कुलगुरुर्मोदतेऽसौ नभस्थः,
कुट्या द्वारि स्थित इह ऋषिर्वेद-मन्त्रान् ब्रुवाणः।
दर्भाद्भिर्वा कुशलबहुलामाशिषं सम्प्रयुञ्जन्,
दीर्घायुष्यं बल-मति-युतं काम्यति ब्रह्मवेत्ता॥७॥

पुत्रि! देखो, आकाशमण्डल में तुम्हारे कुल के आदिपुरुष सूर्यदेव पूर्व दिशा के द्वार पर उदित हो प्रसन्न हो रहे हैं और भूतल पर तुम्हारी पर्णकुटी के द्वार पर खड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषिवर वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए अभिमन्त्रित दर्भजलों का अभ्युक्षण (छिड़क) करके कुशलबहुल आशीष का प्रयोग करते हुए नवजात शिशुओं के बलबुद्धियुक्त दीर्घायुष्य की कामना कर रहें हैं।

इति आश्रममाङ्गल्योन्मेषे निर्मलार्थदीपिका समाप्ता ॥

आश्रमिणामुल्लास - प्रसूतिः (८)

अद्याऽऽश्रमाङ्गण-लता-नव-पल्लवानाम्,
तन्वन्ति तोरण-ततीः परितः प्रमोदे।
नित्यं निषेककलशाद्भिरभिप्रवृद्धा,
वृक्षावलिर्नवफलोद्गमनोत्सुकाऽभूत् ॥१॥

आज आश्रम के आँगन की लतायें नूतन पल्लवों से बड़े-बड़े द्वार पँक्तियों और बन्दनवार को प्रसन्नता में सब और तान रहीं हैं तथा नित्य सींचने के कलशों के जल से सिक्त वृक्षों की पँक्तियाँ फलोत्पादन में उन्मुख और उत्सुक हो रहीं है॥१॥

एतस्य चाश्रम-पदस्य चिरात् प्रशान्ता,
अद्यैव पक्षिकलराव-विनोदिता श्रीः।
सख्यः प्रमोद-जनि-मङ्गल-गीतकानि,
गायन्त्यहो सुरभिताः पवना ववुश्च॥२॥

इस आश्रम की चिरकाल से मौन शोभा आज ही पक्षियों के कलरव से निनादित और गुञ्जित होने लगीं है। सीता की सखियाँ प्रसन्न होकर जन्मोत्सव गीत गा रहीं हैं और सर्वत्र सुरभित पवन बहने लगा है॥२॥

सीता-निवास- चित-पर्ण-कुटीर-प्रान्तम्,
आजग्मुरद्य शिशुभिः सहिता हरिण्यः।
कौतूहलं शमयितुं निज-शावकानाम्,
बाल्य-स्वभाव-जनि-चञ्चल-मानसानाम् ॥३॥

सीता के निवासार्थ पत्तों से निर्मित कुटीर के किनारे अपने शिशुओं के सहित हरिणियाँ लवकुश को देखने के लिए उत्सुक हैं, बाल्य स्वभावजनित उत्सुक अपने बच्चों को लेकर आई हुई हैं॥३॥

पार्श्वस्थितस्य सहकार-तरोश्च शाखाम्,
आश्रित्य सा परिभृता समकूजदुच्चैः।
साकेत-भूमि-पतये सुत-जन्म-वृत्तम्,
दातुं त्वियेष जनकात्मजनेरनुज्ञाम्।।४॥

कुटिया के पास में स्थित रसाल वृक्ष की शाखा पर बैठी वह परभृता (कोयल) पञ्चम स्वर में कूजन करने लगी है और अयोध्यापति राजा राम को पुत्र जन्म का सुखद सन्देश पहुँचाने के लिए जनकात्मजा सीता से अनुमति पाने की इच्छा कर रही है।।४॥

किन्त्वाश्रमे प्रचलिते नियमानुबन्धे,
नो कम्पते क्वचिदयं तरु-पल्लवोऽपि।
मान्यं महर्षिमतिरिच्य हि कश्चिदन्यो,
नैवानुमन्तुमधुना वहतेऽधिकारम्।।५॥

किन्तु आश्रम के प्रचलित नियमों के कठोर अनुबन्धन से कहीं पर भी महर्षि की विना अनुमति के पेड़ का पत्ता भी नहीं हिल सकता। माननीय महर्षि को छोड़कर अन्य कोई अनुमति देने का अधिकार नहीं रखता।।५॥

सीता-सखी-परिजनाः समुदा समेयुः,
रम्भादलैस्तु परिकल्पित-पालनायाम्।
बद्ध्वा दृढं च कमनीय-लता-प्रतानैः,
आन्दोलयन्ति-कल-मङ्गल-गीत-गीतैः।।६॥

सीता की सखियाँ बड़ी प्रसन्न होकर वहाँ आ गईं और केले के पत्तों को सुन्दर लताओं के प्रतानों (रस्सियों) से दृढ़ बान्धे हुये पालना को मनोहर मंगल गीत गाती हुई डुलाने लगीं।।६॥

संस्कार-नामकरणाय तपस्विनीभिः,
सम्भार एष विहितः खलु यज्ञ-वेद्याम्।

सच्छिष्य-मण्डल-सुसेव्य-महर्षि-वर्यः,
वेदः सविग्रह इवाऽपि प्रपद्यतेऽसौ ॥७॥

यज्ञ वेदि पर नामकरण संस्कार करने के लिए तपस्विनियों ने सारा सम्भार कर लिया है। देखो, सामने ठीक समय पर अपने शिष्यमण्डल (ऋषियों) समेत महर्षि- शरीरधारी स्वयं वेद ही मानो, यहाँ पहुँच रहें हैं ॥७॥

सीताचिन्तनम्-

सौभाग्यमस्ति किमु कीदृगिदं यदङ्के,
पीडानलो विरहजोज्वलनोऽप्रशान्तः।
सौख्याम्बुधि-द्वयमिदं किल पुत्ररूपम्,
तत्रैव खेलति मुदाऽऽश्रम-बाल-वृन्दे ॥८॥

सीता सोचने लगी कि यह मेरा कैसा सौभाग्य है कि इधर विरह-पीड़ा की आग अप्रशान्त हो जल रही है और वहीं साथ-साथ पुत्रद्वय दो-दो सुख के सागर प्रसन्नता से आश्रम के बाल-वृन्द के साथ खेल रहे हैं ॥८॥

कीदृक् पुनः पुनरिदं मम दुर्भगत्वम्,
यद्वेत्ति नो रघुपतिः कुलभूषणं स्वम्।
तस्यैवमाश्रमजन-प्रमद - प्रदायि,
सूनु-द्वयं सकल सुन्दरता-निधानम् ॥९॥

और कितना बड़ा मेरा दुर्भाग्य भी है कि रघुपति श्री राम को अपने कुलभूषणों के पास विषय में पता तक नहीं है कि उन्हीं के दो सुपुत्र आश्रमवासिजनों को प्रसन्नता देने वाले एवं सम्पूर्ण सौन्दर्य के खजाने हैं ॥९॥

स्वप्ने ह्यपश्यमहमद्य न रामराज्ये,
सर्पाश्च चन्दनतरून् परिवेष्टयन्ति।

ग्रस्तो व्यमुच्यत रविः किल राहुणाऽपि,
पञ्चानना मृगशिशून् परिपालयन्ति ॥१०॥

मातः, आज मैंने स्वप्न में देखा कि राम राज्य में अब साँप चन्दन के वृक्ष पर नहीं लिपटा करते, राहु ने ग्रस्त सूर्य को अब छोड़ दिया है और सिंह मृगशिशुओं को पालने लगे हैं ॥१०॥

इति आश्रमिणामुल्लासप्रसूतौ निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा ॥

सीतायै आश्रममातुराश्वासनम् (९)

पुत्रि त्वयाऽर्धशयने यदु दृष्टमस्ति,
सत्यं तदस्ति सकलं किल राम-राज्ये।
साधूंश्च चन्दनतरून् कुटिला भुजङ्गाः,
नो पीडयन्ति सरलां गतिमाश्रयन्ते ।।१ ।।

हे पुत्रि! तुमने अर्धनिद्रा में जो स्वप्न देखा है, वह सत्य है। राम के राज्य में सत्पुरुष रूप चन्दनवृक्षों को दुर्जन कुटिल भुजङ्ग पीडित नहीं करते और वे स्वयं सरल गति का आश्रय ले रहे हैं ॥१ ॥

वंशप्रवर्त्तकरवेः सुयशः प्रसारे,
रामेण कष्ट-निवहाः सकला विषोढाः।
मर्यादया परमरक्षदिदं व्रतं स्वम्,
"न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" ।।२ ।।

इस सूर्यवंश के आदि प्रवर्त्तक सूर्यदेव की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाने तथा उसे प्रसारित करने में राम ने सकल कष्टों के समूह को सहा है, परन्तु मर्यादा से इस व्रत की रक्षा की है कि "धीर पुरुष न्याय के मार्ग से कभी एक पैर भी विचलित नहीं होते हैं" ॥२ ॥

सत्याराधन-सुव्रतः शिशुवयः कालादयं राघवः,
पित्रोः प्रीति-विवर्धनाय सतताज्ञा-पालनेऽसंशयम्।
स्वीयासूनपि होतुमैच्छदथवा तत् पूर्त्तये सुध्रुवम्,
मेने सद्धृदयेन सूर्यकुलजस्त्रैलोक्यराज्यं तृणम्।।३ ।।

सत्यव्रत के आराधन करने वाले श्री राघव ने माता-पिता की प्रीति बढ़ाने के लिए शैशव अवस्था से ही उनकी आज्ञा-पालन में असन्दिग्ध रूप से अपने प्राणों की भी आहुति देने की इच्छा रखी है अथवा उस

आज्ञापूर्ति के लिए सूर्यवंशज राम ने तीनों लोकों के राज्य को भी अपने हृदय से तृणवत् समझा है ॥३॥

नो दूरे समयोऽस्त्यसौ कुलमणी संवर्ध्यमानाविह,
स्वीयाऽ तुल्य-पराक्रमस्य महसा सर्वा दिशोऽसंशयम्।
संछाद्याऽपि करिष्यतो रघुपतेः कीर्तिध्वजं चोच्चकैः,
कालोऽसौ समुपैष्यति प्रियतमः सम्मेल-सौहार्दवान्॥४॥

वह समय अब दूर नहीं है जब ये कुलमणी यहाँ संवर्धित होकर अपने अतुलनीय पराक्रम के तेज से असंदिग्धरूप से सब दिशाओं को आच्छादित करके रघुवंश की कीर्ति पताका को ऊँचा करेंगे और वह समय भी आयेगा जब तुम्हारा अपने प्रियतम से मिलन होगा और उनका सौहार्द मिलेगा॥४॥

इति सीतायै आश्रममातुराश्वासने निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा ॥

मातरं प्रति- लवकुशयोः प्रश्नः (१०)

किञ्चादिनं सहृदया तवकाश्रमाम्बा,
सम्बोधयत्यनुपदं मधुरैर्वचोभिः।
चिन्तां कुरुष्व तनये नहि किञ्चनाऽपि,
कालः समेष्यति शुभावह एव सद्यः॥१॥

लव का प्रश्न - मुझे बताओ तो सही तुम्हारे आश्रम की सहृदया अम्बा जी मीठे-मीठे स्वर में दिनभर क्या समझाती रहती हैं कि "तुम किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता मत करो। तुम्हारा कल्याणकारी समय शीघ्र ही आयेगा"॥१॥

चिन्ता यथास्ति जननि प्रतिवक्तु सद्यः,
किं वाऽपि दुःखमिह तत्र च कारणं किम्?
यावन् मया तदतिसूक्ष्मदृशाऽप्यधीतम्,
त्वं चास्मदीय-सविधे विमनाः सदैव॥२॥

माँ! जैसी भी चिन्ता है उसे मुझे शीघ्र बताओ तथा दुःख क्या है? वा इस दुःख को देने वाला कौन है? मैं भी बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देख रहा हूँ कि तुम सदा मेरे पास विमना (कुछ खोई-खोई सी) रहती हो॥२॥

मातुर्हि नौ शिशुवयस्यपि तेज आस्ते,
किन्नैव पश्यसि मुनेस्तपसः प्रभावात्।
शौर्येण धर्षयितुमत्र च सक्षमौ स्वः,
विष्णुर्ह्युपैति यदि चक्रधरः समक्षे॥३॥

हे माता! क्या तुम देख नहीं रही हो कि महर्षि की तपश्चर्या के प्रभाव से हम दोनों का शैशव अवस्था में महान् तेज है। चक्र (धनुः) सुदर्शनधारी साक्षात् विष्णु जी भी यदि हमारे समक्ष युद्धस्थल में आ

जायें, तो हम लोग उन्हें भी धर्षित करने (नीचा दिखाने) में समर्थ हैं ॥३॥

किन्नैव विश्वसिषि हे वनदेवि हस्ते,
वामे धनुर्लघु करे मम दक्षिणे च।
नाराच एष लघुरेव परन्तु शौर्ये,
'तेजस्विनां किल वयो न समीक्ष्यते हि'॥४॥

हे वन देवी! तुम हम पर क्यों विश्वास नहीं करतीं? देखो, हम छोटे अवश्य हैं, हमारे बायें हाथ में यह छोटा सा धनुष और दक्षिण हाथ में छोटा सा बाण है। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि "तेजस्वियों की आयु नहीं देखी जाती"॥४॥

मातः श्रुतिं गतमिदं मम वृत्तमेतत्,
कश्चित् ससैन्य इह राक्षसराजमेकम्।
रामो जघान परमेकल एव चाऽहम्,
अर्हामि राक्षसगणं निखिलं निहन्तुम्॥५॥

माता! मेरे सुनने में यह बात आई है कि किसी राम नामक पुरुष ने साथ में सेना लेकर एक राक्षस राज रावण को मार दिया था, परन्तु मैं तो अकेला ही सम्पूर्ण राक्षसगण का वध करने में समर्थ हूँ॥५॥

चिन्तां न वेदयसि किन्नु बिभेषि कस्मात्,
ऋष्याश्रमे किल वसन्त्यपि वीरमातः।
सद्यो ब्रवीतु वनदेवि च नाम तस्य,
तं नामशेषमधुनैव नये त्रिलोक्याः॥६॥

तुम मुझे अपनी चिन्ता नहीं बताती, हे वन देवी! तुम ऋषि के आश्रम में रहती हुई तथा वीरमाता होकर भी क्योंकर और किससे भयभीत हो रही हो? उसको मैं अभी तीनों लोकों से नाम निश्शेष कर दूँगा॥६॥

पश्य त्वमाशु नयने तु परिप्लुते स्तः,
नोल्लासदा तव हृदे त्वधरस्मितिर्नौ।
भूयो न वार्तमपि ते मम रोचते किम्?
ब्रूह्यन्यथा बत वदामि महर्षिमेत्य॥७॥

देखो माँ! अरे! तुम्हारी आँखें तो अभी डबडबा आईं, क्या तुमको हम दोनों की मुस्कान अच्छी नहीं लगती? यह तुम्हारे हृदय में उल्लास नहीं भरती, तुम को हमारी बातें भी अच्छी नहीं लगतीं। बोलो न, नहीं तो मैं जाकर महर्षि से अभी कहता हूँ॥७॥

वनदेवी-
त्वं वेत्सि वत्स जलमेति सदा हिमत्वम्,
शैत्येन तद् गलति तापमवास्य नूनम्।
हृन्मे हिमायितमभूच्चिरकालतो यत्,
सूर्य-प्रधर्षि मुखमण्डल-तेजसा ते॥

पश्चाद्धिमं गलति तन्नयनाम्बु-भूतम्,
अश्रूणि यत् कलयसे मम प्रेष्ठ पुत्र।
उल्लासयत्यतितरामधरस्मितिस्ते ,
वीरात्मजे त्वयि भवत्यकुतोभयाऽस्मि॥८-९॥

वनदेवी - बेटे! तुम जानते ही हो कि ठण्डक में पानी जम जाता है और वही ताप को पाकर पिघल कर पानी हो जाता है। मैं मानती हूँ, जो मेरा हृदय चिरकाल से हिमी (जड़ी) भूत हो गया था, वही हृदय आज सूर्य के प्रताप को भी अभिभूत (पराजित) करने वाले तुम्हारे मुखमण्डल के तेज से पिघलने लगा है, वही तो आँखों का पानी बन गया है, जिसे तुम आँसु समझते हो। मेरे प्यारे बेटो! तुम्हारे होठों की मुस्कान मुझे अत्यन्त उल्लास देती है। तुझ वीर-पुत्र की माँ होकर मुझे किसका डर होगा? ॥८-९॥

लवकुशौ कथयतः - **आवां यदाश्रमनिवासि-शिशु-व्रजेऽस्मिन्,**
खेलाव एत्य सकलं ह्यपि बाल-वृन्दम्।
त्वां वेत्ति चाऽतिथिमिवर्षि-कथा-प्रसङ्गात्,
जिज्ञासते 'तव पितुः किमु नाम रूपम्'॥१०॥

लवकुश - माँ! हम दोनों जब आश्रमवासी शिशुओं के साथ खेलते हैं, तो सारे ही बच्चे इकट्ठे होकर पूछते हैं वे ऋषिवर के कथाप्रसंग से तुम्हें तो पहचानते हैं, किन्तु वे पूछते हैं, तुम्हारे पिता का नाम और रूप क्या है? ॥१०॥

नैवागमन्नयनगोचरतामसौ नः,
जीवत्यसौ किमु स नैति कदाश्रमेऽपि।
किं वाऽप्रसन्न उत मातरि कोपितो वा,
नो वा दिदृक्षुरपि नौ भवति प्रसन्नः॥११॥

वे तो कभी हमारे नयनगोचन ही नहीं हुये, वे जीवित हैं, तो आश्रम में कभी क्यों नहीं आते? क्या वे माता (सीता) जी से अप्रसन्न हैं या किसी दुष्ट ने उन्हें कोपित कर दिया है? तो भी वे हम लोगों को देखने के कभी इच्छुक नहीं होते? ॥११॥

वनदेवी- **ऋष्याश्रमस्य नियमैश्च तपश्चिकीर्षुः,**
यद् वा तपस्वि-जन एव प्रवेष्टुमर्हः।
चिक्रीडिषन् उपगतानिह बालकान् सा,
प्रोवाच 'पृच्छथ कथं जनकस्य नाम'॥१२॥

प्रिय पुत्र ! ऋषिवर के आश्रम के नियम हैं कि कोई तप साधना करना चाहता है या तपस्वी है, वह आश्रम में प्रवेश कर सकता है। खेलने के इच्छुक इकट्ठे हुए बालकों के पास आकर सीता ने कहा कि प्यारे बच्चों! खेलने में तुम लोग पिता के नाम को क्यों पूछते हो, मत पूछा करो॥१२॥

वीक्षध्वमां सवयसः कुशलाविमौ किम्,
नोपद्रवं प्रकुरुतो नियमानुशिष्टौ।
युष्माभिरत्र सह नैव पिताऽनयोर्हि,
खेलिष्यतीति किमु पृच्छथ नाम तस्य॥१३॥

अच्छा देखो! तुम लोग सब शिशु समान आयु के हो, यह बताओ कि यह दोनों आश्रम के अनुशासन में उपद्रव तो नहीं करते? इनके पिता तो तुम लोगों के साथ खेलेंगे नहीं, वे बड़ी आयु के हैं- फिर उनका नाम क्यों पूछते हो? ॥१३॥

हे मे सुताः कतिपयाः खलु पृच्छिकास्तु,
नाऽऽवश्यका न च मता समयानुकूलाः।
पृष्ठानि कानिचिदिमानि च सेतिहासः,
स्वाङ्के प्रगोप्य धरतीह सुरक्षितानि॥१४॥

मेरे पुत्रों! कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं, जो न तो आवश्यक होते हैं और न समय के अनुकूल होते हैं। कुछ ऐसे प्रश्न-पृष्ठ हैं, जिनको इतिहास अपनी गोद में छिपाकर सुरक्षित रखता है॥१४॥

कस्तूरिका-प्रबल-गन्ध-वशात् समेषाम्,
चित्तं वशे प्रकुरुते नहि कश्चनाऽपि।
पृच्छत्यहो झटिति कस्य मृगस्य नाभिः,
"लिङ्गस्य नैव वयसो गणना गुणानाम्"॥१५॥

देखो, कस्तूरी अपनी प्रबल गन्ध से सभी के मन को अपने वश में कर लेती है, परन्तु कोई व्यक्ति झट से यह नहीं पूछता कि यह कस्तूरी किस मृग की नाभि है। सत्य है- "गुणों के मूल्यांकन में आयु और स्त्री-पुरुष भेद नहीं देखे जाते"॥१५॥

सर्वत्र हीरक-परीक्षणमाशु विज्ञैः,
निर्धार्यते गुणगणैर्न कुतश्च लब्धम्।

मुक्ता जनिर्जलधि पालित शुक्तिकुक्षौ,
स्वात्यां भवेन् न विपुलासु वराटिकासु॥१६॥

संसार में सर्वत्र विज्ञ-पुरुष हीरे की परीक्षा उसके गुण-गणों के निर्धारण में करते हैं न कि वह किस खान से मिला इस आधार पर। मोती की उत्पत्ति समुद्र में पालित सीप की कुक्षि से स्वातिनक्षत्र में होती है न कि बड़ी-बड़ी कौड़ियों की गोद में ॥१६॥

इति मातरं प्रति लवकुशयोः प्रश्ने निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

सीताया अन्तर्घोटनम् (११)

हे मे विधे न निखिलं ह्यपि शब्दशास्त्रम्,
किञ्चित् क्षमं हृदय-पीडनमाशु वक्तुम्।
वाचावरुद्ध-वचसां वलवत्-प्रवाहः,
नूनं समुच्छलति नेत्रपथादशब्दम्॥१॥

हे मेरे विधाता! समस्त शब्दशास्त्र ही मेरे हृदय की पीड़ा को कहने में सक्षम नहीं है। वाणी में अवरुद्ध वचनों का बलवान् प्रवाह अन्ततः नेत्रों के मार्ग से नीरव होकर छलक पड़ता है॥१॥

हे राम सम्प्रति रहः खलु निसहाया,
जिज्ञासितं न शमयामि यथार्थतोऽहम्।
न त्वं पिता कमल-सुन्दरमाननं वै,
शिश्वोरपश्य इति चिन्तन-भाव-धारा॥

अश्रूणि मोचयति वै सहसा पथेन,
मन्नेत्रयोर्नहि निलापयितुं समर्था।
बालौ समेत्य परिपृच्छत एव नित्यम्,
कालः कियान् व्यतिगतः खलु ते रुदन्त्याः॥२-३॥

हे मेरे राम ! इन निरीह अबोध बच्चों के प्रश्नों पर मैं निःसहाय, निरुत्तर और निरुपाय हो जाती हूँ। एकान्त में इनकी जिज्ञासा का यथार्थ में समाधान नहीं कर सकती। तुमने पिता होकर भी इन शिशुओं के कमलवत् सुन्दर कोमल मुख को अभी तक नहीं देखा है, यही चिन्तन भाव-धारा मेरे आँसुओं को नेत्रमार्ग से बहाने लगती है। मैं इन्हें छिपा सकने में असमर्थ हूँ। दोनों बालक फिर भी नित्य आकर पूछते हैं। तुम बताओ, मुझे रोते हुए कितना समय बीत गया?॥२-३॥

बालौ पुनः कथय किं कथयानि देव,
यद् वां प्रसूर्नयनवारिषु सम्प्रजाता।
स्वं जीवनं न्वगमयत्तु निपीय तानि,
तान्येव हा प्रकटयन्ति हृदो व्यथां मे॥४॥

हे मेरे आराध्य देव! तुम्हीं बताओ कि इन बच्चों से क्या कह दूँ? या कि यह, कि तुम्हारी माँ तो आँसुओं में ही पैदा हुई है और आँसुओं को पीकर ही उसने अपना अब तक का जीवन काटा है। पर वे ही आँसु मेरे हृदय की व्यथा को प्रकट कर देते हैं॥४॥

स्वप्ने ह्यपश्यमहमद्य बिभेहि न त्वम्,
त्वां त्रातुमेष उपयाति हि रामभद्रः।
उत्थाय पृच्छति लवः "प्रसु रामभद्रः,
कः स्वप्न काल इत आगत एव रात्रौ"॥५॥

आज ही स्वप्न में मैंने देखा कि आप मुझे धैर्य बँधाते हुए कह रहे थे कि "सीता! तुम डरो मत, मैं रामभद्र तुम्हारी रक्षा के लिए आ रहा हूँ।" तभी मेरे मुख से निकले इन स्वप्न के शब्दों को सुनकर लव सोते से उठकर मुझे जगाकर पूछने लगा कि माँ! ये रामभद्र कौन है? जो सोते समय यहाँ रात में आया॥५॥

नाथोत्तरं भवतु कि विषमा समस्याऽ,
योध्यापतिस्तव पिता मम प्राणनाथः।
मर्यादया न, कथनीयमिदं तु सत्यम्,
'यस्मिन् रमन्त इह वा यतयः स रामः'॥६॥

हे नाथ! बताओ, इन भोले शिशुओं को क्या उत्तर हो? मेरे समक्ष तो विषम समस्या है। क्या मुझे यह कह देना चाहिए, जो सत्य भी है कि अयोध्यापति राम तुम्हारे पिता हैं और मेरे प्राणनाथ हैं? पर, मर्यादा के कारण अभी मैं ऐसा कैसे कह दूँ? और बच्चों से झूठ भी

कैसे बोलूँ? अथवा यह भी कहने में सत्य है कि "जिसमें योगी लोग निरन्तर रमण करते हैं, वे राम हैं, जो तुम्हारे पिता हैं"॥६॥

इति सीताया अन्तर्घोटने निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा।

अश्वमेधाश्वबन्धनम् (१२)

कोलाहलः समुदभूत् तुमुलस्त्वकस्मात्,
प्रादिद्रवत् सकलमाश्रम-बालवृन्दम्।
त्वं धाव धावमनुधाव सह द्रुतं च,
शीघ्रं बधान निबधान सुधृष्टमश्वम्।।१।।

आश्रम में अकस्मात् बड़ा कोलाहल मच गया, आश्रम का सकल बालवृन्द दौड़ा जा रहा है- दौड़ो-दौड़ो, तुम शीघ्र गति से इस घोड़े के पीछे दौड़ो-दौड़ो, इस धृष्ट घोड़े को जल्दी पकड़ो और बाँध लो।।१।।

सर्वं चरिष्यति च घासमथाश्रमस्य,
सद्यो निरोध्य इह रज्जुभिरेव नूनम्।
इत्याब्रुवन्त उपगत्य समुच्छलन्तः,
अश्वं मुदा च परिवार्य समेऽपि तस्थुः।।२।।

नहीं तो, यह आश्रम की सारी घास चर जायेगा। यहाँ इसे रस्सियों से रोको। इस प्रकार कहते हुए बालवृन्द घोड़े के पास पहुँच कर प्रसन्नता से घेर कर बैठ गए।।२।।

तेष्वेक आह सहपाठिन एवमश्वोऽ,
धीतो मया प्रकरणे किल चाश्वमेधे।
तल्लक्षणैरनुमिनोमि हि दिग्जयाय,
मन्ये धरापति-बलाग्रसरः कृतोऽयम्।।३।।

इन बालकों में से एक बोला- सहपाठियों! इन लक्षणों वाला घोड़ा तो हम लोगों ने श्री गुरु मुख से 'अश्वमेध प्रकरण' में पढ़ा है। इससे अनुमान होता है और मैं मानता हूँ कि किसी वसुधा-पति राजा ने इसे दिग्विजय करने को अग्रेसर किया है।।३।।

दुःसाहसं न कुरुताश्व-निबन्धनाय,
वैरं वृणोति मतिमान् सह को नृपेण।
तस्मिन् क्षणे लवकुशौ नृपतेः कुचेष्टाम्,
मत्वा द्रुतं जगृहतुर्निबबन्धतुश्च।।४।।

इसलिए इस घोड़े को बाँधने का दुस्साहस मत करो। कौन बुद्धिमान, राजा के साथ वैर बाँधता है? उसी क्षण लव-कुश ने इस अश्व-प्रवेश को राजा की कुचेष्टा और दुस्साहस मानकर झपटकर पकड़ लिया और बाँध लिया।।४।।

लवः -
ऋष्याश्रमः किल पुरा कतमेन राज्ञा,
दुर्धर्षितः स्वनियमैर्न नियन्त्रितोऽपि।
दृष्टे मयाऽऽश्रम पदेऽनुमताः क्षितीन्द्राः
अस्मन्-महर्षि-पद-पद्मसु चापतन्ति।।५।।

ऋषि के आश्रम में कभी पूर्वकाल में किसी राजा ने अनधिकार प्रवेश नहीं किया और आश्रम, राजा के नियमों से कदापि नियन्त्रित भी नहीं किया गया। मैंने अपनी आँखों से देखा है कि कोई भी महान् पुरुष आश्रम में हमारे महर्षि से अनुमति लेकर ही प्रवेश करते थे और महर्षि के चरणों में प्रणाम करते थे।।५।।

इन्द्रोऽथवा कुलिश -पाणिरथेन्द्रजिद् वा,
तस्यापि जित् तदनु पूज्य-धनुर्धरो वा।
आयिष्यते मम पुरः समरे कदापि,
मुक्त्वा तदा समुपयातु च प्राणमोहम्।।६।।

वज्रपाणि इन्द्र हो अथवा इन्द्रजित् कोई मेघनाद हो या उसका भी विजेता कोई भी हो (लक्ष्मण) अथवा उसका भी बड़ा पूज्य कोई धनुर्धर हो, वह कदापि मेरे सामने यदि समराङ्गण में आयेगा तो वह प्राणों का मोह छोड़ कर ही आये।।६।।

कोलाहल-स्वरमिमं तुमुलं निशम्य,
सीता जवान्निरसरत् स्वकुटीरदेशात्।
शुश्राव तौ लवकुशौ निबबन्धतुश्च,
राजाश्वमेधमिह शंकितमानसाऽभूत्॥७॥

इस महान कोलाहल को सुनकर सीता अपनी कुटिया से झटिति निकल पड़ी और सुना कि उन लव और कुश ने राजा के अश्वमेध के घोड़े को बाँध लिया है। इससे वे अत्यन्त चिन्तित हो गईं॥७॥

नीत्वा च योत्स्यत इमौ ऋषिबाल-सैन्यम्,
कश्चिद्ध्यनर्थ इह सम्भविताऽनभीष्टः।
कश्चित् प्रबोधयतु सम्प्रति बालबुद्धौ,
अन्विष्य सूचयतु दुर्घटनां महर्षिम्॥८॥

अब ये दोनों ऋषिपुत्रों की बालसेना ले जाकर युद्ध करेंगे, निश्चय ही कोई अनिष्ट अनर्थ होने वाला है। कोई जल्दी ही इन बाल-बुद्धियों को समझा दो और ढूंढ करके महर्षि को सूचित कर दो॥८॥

इति अश्वमेधाश्वबन्धे निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

बालनिर्बन्धः (१३)

लवः—

यदास्मदीयं पदमेतदुत्थितम्, वर्धिष्यतेऽग्रे नहि पृष्ठमेष्यति।
प्रयात मोक्ष्यामि न चाश्वमेधकम्, अश्वं दृढश्चान्तिम-निर्णयो हि नः ॥१॥

जब हमारा यह पैर उठ गया, तो आगे ही बढ़ेगा, पीछे नहीं जायेगा। सैनिकों! तुम चले जाओ, मैं अश्वमेध के घोड़े को नहीं छोड़ूँगा - यह हम लोगों का अन्तिम और दृढ़ निश्चय है ॥१॥

दुःसाहसं त्वन्नृपतेर्महर्षेः, सौम्याश्रमे चाक्रमणं बलेन।
युष्मद्-विचारे किल याज्ञिकानाम्, बाह्वोर्बलं वै स्रुव- संवहत्वम् ॥२॥

तुम्हारे राजा का यह दुस्साहस है, जो महर्षि के सौम्य आश्रम पर सेना लेकर आक्रमण किया है। आप लोगों के विचार में याज्ञिकों की भुजाओं के बल में केवल घृताहुति का सुवा उठाने मात्र की ही क्षमता होती है ॥२॥

यूयं सगर्वाः स्वविशाल-सैन्ये, शस्त्रास्त्र-संसज्जित-युद्धदाक्ष्ये।
परं समर्थस्तदखर्व-गर्व-विचूर्णनायाऽस्मि तदैकलोऽहम् ॥३॥

शस्त्र और अस्त्रों से सुसज्जित युद्ध की निपुणता वाली अपनी विशाल सेना पर आपको गर्व है, परन्तु मैं अकेला ही उस महान् गर्व को चूर्णित करने में समर्थ हूँ ॥३॥

उद्दाम-सत्-साहस-लोल-वीचि-प्रभञ्जनोद्-वेलित-पौरुषे नः।
यथाग्निमध्ये सगरस्य पुत्राः, युष्मच्-चमूः सञ्ज्वलितुं समागात् ॥४॥

प्रचण्ड साहस भरी ज्वालाओं की चञ्चल लहरों वाले प्रभञ्जन से उद्वेलित हमारे पौरुष में जल कर भस्म होने को तुम्हारी सेना ऐसे ही आई है, जैसे सगर के पुत्र कपिल ऋषि की तेजोअग्नि में भस्म होने गए थे ॥४॥

यज्ञाग्निमादीपयितुं यथाऽऽज्यम्, शुष्केन्धनं चेष्यत एव नित्यम्।
तथैव नः कोप-प्रदीपनाय, यूयं स्थिता वै समरे समक्षे॥५॥

जैसे घृत तथा शुष्क समिधायें यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वाञ्छित हैं, उसी प्रकार हमारी कोपाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए आप लोग मेरे सम्मुख समर स्थल में खड़े हैं॥५॥

भुजबलं नयताश्वमिमं द्रुतम्, उत समानयताशु नृपं पुरः।
अनुमतिं तु विनाश्व-प्रवेशनम्, किमपराधयुतं नहि कर्म वः?॥६॥

यदि तुम्हारी भुजाओं में बल पौरूष है, तो इस घोड़े को ले जाओ या अपने राजा राम को हमारे सामने शीघ्र लाओ। महर्षि की अनुमति के बिना आश्रम में अश्व का प्रवेश कराना क्या अपराधी कर्म नहीं है? ॥६॥

यदि नृपः खलु याचति स क्षमाम्, स्वयमुपेत्य महर्षिवरं नयेत्।
इतरथा किल सज्जत सत्वरम्, मम शरस्तु ततज्य-धनुः-स्थितः॥७॥

यदि तुम्हारा राजा स्वयं आकर महर्षि से क्षमा मांगता है, तो वह अश्व ले जाये, अन्यथा युद्ध के लिए शीघ्र तैयार हो जाओ। लो, मेरा वाण तो प्रत्यञ्चा-बद्ध धनुष पर चढ़ गया॥७॥

ननु प्रतीयत एव धरापतेः, कुल-समृद्धविलास-सुलालिताः।
अनुभवो नहि कण्टकितक्षितेः, समभवद् भवतां मृदुदेहिनाम्॥८॥

प्रतीत होता कि आप लोग राज कुल की समृद्धि विलासिता में जन्मे और पले हैं, किन्तु कोमल-कलेवर आप लोगों को वन की कण्टकाकीर्ण भूमि पर चलने का अनुभव नहीं है॥८॥

खर-नखैर्गज-मस्तक-दारिणः, निशित-कण्टक-मार्ग-विहारिणः।
प्रबल-साहसि-केसरिणः पथम्, विजहति क्लमेव विलोक्य नः॥९॥

तीक्ष्ण नखों से हाथियों के मस्तक को विदीर्ण करने वाले, पैने काँटों पर विहार करने वाले, प्रबल साहसी केसरी भी हमें देखकर शीघ्र ही मार्ग छोड़ देते हैं॥९॥

वन-विपत्ति-समूह-समुद्भवः, अति-कठोर-शरीर-धनुर्धराः।
अमित-शौर्य-प्रफुल्लित-वक्षसः, वयमितः प्रतिपक्षगता रणे॥१०॥

हम लोग तो वन की विपत्तियों में जन्मे, अति कठोर शरीरधारी धनुर्धर हैं तथा इधर हम शौर्य सम्पन्न विशाल वक्षः स्थल वाले आपके प्रतिपक्षी हैं। ॥१०॥

मम भवन्त इह प्रतिबोधने, निज-हितावहमेव सुमन्वते।
अभिलषन्ति प्रतिष्ठिति रक्षणम्, तदनु याचत मांतु सुरक्षणम्॥११॥

यदि आप लोग मेरे समझाने में अयन्त हित समझते है और अपनी प्रतिष्ठा को रखना चाहते है, तो मुझसे अपने प्राणों की भिक्षा मांगे॥११॥

प्रतिनिवृत्य वदन्तु च राघवम्, त्यजतु स स्वबलेऽप्यवलेपनम्
तव बलं वनदेवि-सुतक्रुधाऽ-नल-शिखासु मुधा शलभायते, ॥१२॥

वापस लौटकर अपने रघुवंशी राजा से कहना कि तुम्हारी सेना वनदेवी सीता के पुत्रों के क्रोधाग्निशिखा में व्यर्थ ही पतंगा बन रही है। तुम अपनी सेना की विशालता का घमण्ड छोड़ दो॥१२॥

इति बालनिर्बन्धे निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

हा! युद्धं प्रारब्धम् (१४)

भरतः

ममानुजौ पश्यतमाशु कीदृशम्, मनोहरं पङ्कजकोमलाननम्।
शिशोर्वयस्त्वाच्चपलत्वमेतयोः, बालत्वभावालपनानुकर्षणम्॥१॥

मेरे भाई लक्ष्मण और शत्रुघ्न! देखो-देखो, इन बालकों के कैसे सुन्दर मुखारबिन्द है। शैशव आयु के कारण इनकी चपलता और बाल-सुलभ बोलने में मोहकता और लुभावना-पन है॥१॥

आजानुबाहून्नत-भालशोभनौ, तेजस्विनौ द्वौ परिणद्ध-कन्धरौ।
सुलक्षणौ भूपति-चक्रवर्तिनोः, इमौ दयास्नेह-सुभाजने मम॥२॥

ये दोनों आजानुबाहू, उन्नत ललाटशोभित, सुपुष्ट, सुन्दरग्रीवा वाले, चक्रवर्ती राजा के लक्षणों से युक्त ये मेरी दया व कृपा के पात्र हो रहे हैं।॥२॥

लवः

स्वकीय- कार्पण्य-निगूहनाय वै, दयार्द्रतां दर्शयते ममोपरि।
'गृह्णण, सम्भालय में शरं चलम्, क्षणं न वा ज्यास्थितिमाश्रयत्ययम्॥३॥

आप अब अपने कार्यण्य (कायरपन) को छिपाने के लिए मेरे ऊपर दयार्द्र हो रहे हैं, "लो सम्भालो, मेरे चपलवाण अब क्षण भर भी इस प्रत्यञ्चा पर ठहर नहीं पा रहे हैं।"॥३॥

आश्रमस्यान्ये केचन -

युद्धं प्रारभताशुभीमतुमुलं क्रुद्धो लवः साम्प्रतम्,
लक्ष्यीकृत्य च लक्ष्मणं विहितवान् नाराचवृष्टिं द्रुतम्।
हाऽनर्थो भरते निरङ्कुशकुशो वाण-प्रवृष्टिं व्यधात्
अन्विष्यन्ति महर्षिवर्यमधुना सर्वे भयाशङ्किताः॥४॥

अब लव क्रोध में भर गया है, बहुत भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया है और लक्ष्मण को लक्ष्य बनाकर उसने वाणवृष्टि तेज कर दी है। हाय! यह और भी अनर्थ हो रहा है कि निरंकुश कुश ने भरत पर भी वाणों की घनघोर वर्षा कर दी। सभी भय की भाविनी आशंका से घबराये हुए महर्षि बाल्मीकि को ढूंढ रहे हैं॥४॥

युद्धक्षेत्रमिदं किलाश्रमपदं संजायते भीषणम्,
यच्चाऽऽसीज् जप-यज्ञ-पावन-पदं रक्तापलुतं हाऽभवत्।
शीघ्रं त्वं चल वान्यथा तु समरे ध्वंसो महान् जायते,
नहि कस्यचित्तु कथनं मन्येते कुर्याम किं साम्प्रतम्॥५॥

हा हा! यह आश्रम स्थान अब निश्चित ही युद्ध क्षेत्र बनने जा रहा है, जो जप-पूजा और यज्ञों का स्थान है, वह अब रक्त से सराबोर हो गया। हे सीते! तुम युद्ध-स्थल पर जल्दी चलो, नहीं तो और भी महान विध्वंस होने जा रहा है। ये दोनों लवकुश किसी का कहना नहीं मान रहे हैं, अब हम क्या करें? ॥५॥

"हा युद्धं प्रारब्धम्" इति शीर्षके निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

सङ्ग्रामे महाननर्थः (१५)

आश्रमबालाः –

मातर्द्वावपि शेषरोषतिमिरान्धौ नो दिवापश्यतः,
शत्रुघ्नो भरतश्च लक्ष्मणयती चाभ्यां तथैवाहताः।
येनैषां व्रणितात्मनां हि नितरां सञ्जीवने संशयः,
सज्जीकृत्य विशाल-सैनिकदलं रामः स्वयं चैष्यति॥१॥

माता सीते! ये दोनों ही रोष के कारण तिमिरान्ध हो रहें है, इन्हें दिन में भी नहीं दिख रहा है। शत्रुघ्न, भरत और यति लक्ष्मण इन दोनों ने बहुत घायल कर दिये है। जिनसे इन घायलों के जीवित रहने में भी संशय हो रहा है। तब तो विशाल सेना को आयुधों से सज्जित कर राम स्वयं ही आयेंगे॥१॥

वैरं नाऽपि तु येन केन महता वीरेण रामेण वै,
सन्देशस्य च प्रापणाय चलिता दूता अयोध्यां प्रति।
श्रुत्वा त्वं स्थगिता विकम्पितमनाः किं-कार्यमूढात्मना,
सीतेऽबोधशिशू प्रबोधय रहस्यं चान्यथा संक्षयः॥२॥

और युद्ध भी ऐसे वैसे से नहीं छिड़ा है महान पराक्रमी राम के साथ हो रहा है। सन्देश लेकर दूत अयोध्या के लिए चल पड़े हैं। तुम तो यह सुनकर हक्की-बक्की सीकिंकर्त्तव्य विमूढ होकर काँपने लगी। माँ सीते! दोनों ही अबोध बालक हैं, इन्हें रहस्य बताकर समझा दो, अन्यथा विनाश हो जायेगा॥२॥

सीता –

किं वा सम्प्रति संत्यजानि किमु वा सद्यो मया रक्ष्यताम्,
हर्म्येभ्यस्तु बहिष्कृता हि विजनव्याघ्रैः पुनर्वासिते।
अस्मिन्नेव वने सुदीर्घदिवसान् ग्रीष्मस्य शैत्यस्य वा,
पृथ्वी-तल्प-गताप्यनैषिषमहं निद्राविहीना निशाः॥३॥

सीता - अब मैं क्या छोड़ूँ और क्या अपना लूँ? राजमहलों से तो मैं बहिष्कृत हूँ ही, व्याघ्रवासित इस वन में मैंने ग्रीष्म और शीत के लम्बे दिन और रात भूमि की शय्या पर लेटकर विना नींद के ही बिताये हैं ॥३॥

हे मे भाग्य-विधातृदेव करणीयं किं हृदा साम्प्रतम्,
एकस्मिन् खलु पक्ष एवं सुतरां मे नेत्रयोस्तारके।
भर्त्तुः कीर्ति-निकेतन-प्रहरिणौ तद्-राघवस्यात्मजौ,
सौभाग्यं ह्यपरत्र मे च सफलं सञ्जीवनं विद्यते॥४॥

हे मेरे भाग्य विधाता देव! मेरा मार्गदर्शन करो। अब मुझे हृदय से कौन सा पक्ष ग्रहण करना चाहिए? एक ओर मेरी आँखों के तारे और मेरे भर्त्ता श्री राघव की कीर्ति-निकेतन के प्रहरी पुत्र हैं और दूसरी ओर मेरे सर्वस्व सौभाग्य जीवन धन पतिदेव हैं॥४॥

'संग्रामे महान् अनर्थः' इति शीर्षके निर्मलार्थदीपिका सम्पन्ना॥

रणक्षेत्रे रामाभियानम् (१६)

रामस्यागमनं विलोक्य सहसाभावोऽनयोः कश्चन,
संजातो हृदये प्रशान्ति-सुखदोऽप्यज्ञात-तत्कारणः।
तस्मिन्नेव रणे क्षणे स्थितिमपि स्वीया मवेत्याशु वै,
नाराचश्चलितः पपात प्रथमो रामस्य पादाब्जयोः ॥१॥

ओह, यह क्या! सहसा राम का आगमन देखकर इन लव कुश के हृदयों में प्रशान्त और सुखद कोई अनिर्वचनीय भाव उत्पन्न हो गया, जिसका कारण अज्ञात है। इस भाव के उत्पन्न होने के साथ-साथ लव-कुश ने अपनी स्थिति को समझा कि अरे! हम तो रणक्षेत्र में है, फिर शीघ्र ही स्वभावतः धनुष से छूटा हुआ उनका प्रथम बाण राम के चरण कमलों में जा गिरा॥१॥

प्रत्यञ्चां समयोजयत् स्वधनुषः कोटिद्वये राघवः,
पश्चाद् दक्षिण-हस्त मानयदयं तूणीरकस्यान्तिकम्।
तत्काले पुरतो दृशःप्रसरणे सूर्य-प्रभा-धर्षकम्,
ऐक्षिष्टाऽप्यति सुन्दरं विकसितं बालारविन्दद्वयम्॥२॥

इधर राम ने धनुष की कोटियों पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी, पश्चात् दक्षिण हाथ को तूणीर (तरकश) के पास ले गए, तभी दृष्टि फैलाने पर सूर्य के तेज का अभिभव करने वाले अतिसुन्दर विकसित दो बालारविन्दों को देखा॥२॥

हस्तोऽकम्पत दक्षिणः पुनरयं वामोऽपि सन्धानतः,
रामो विस्मयमागतोऽप्यवसरो नैवं विधः प्रागभूत्।
युद्धस्थाङ्गणमागतस्य मम वै धर्मोऽसृजोवाहनम्,
को हेतुर्ममता मनस्युदयते कारुण्य-भावोऽद्य मे॥३॥

अकस्मात् राम का दाहिना हाथ काँपने लगा और बायां हाथ भी स्वतः निशाने से हट गया, राम विस्मय में पड़ गये कि ऐसा तो पहले कभी न हुआ। रणाङ्गण में उतर कर मेरा धर्म तो विपक्ष का रक्त बहाना ही है। क्या कारण है कि मेरे मन में इन बालकों को देखकर ममता और करुण भाव का उदय हो रहा है? ॥३॥

लवः-

निःशस्त्रः स्थगितः कथं रघुवरो वीरो धरा-विश्रुतः,
कार्पण्येन बिभेति यन्न मयका ह्यस्मिन् निपात्यः शरः।
गत्या विद्युत आववर्षतुरतो वाणान् लवो वा कुशः,
सैन्यां शक्तिमु कुण्ठितामकुरुतां विस्मापयन्तौ च तौ॥४॥

यह रघुवर पृथिवी के प्रख्यात-वीर है, ये क्योंकर निःशस्त्र से हो रुक गये? मेरी समझ में आ रहा है कि कायरपन के कारण ये मुझसे भयभीत हो रहे हैं, तो मुझे भी इन पर वाण नहीं चलाना चाहिए इसलिए इन दोनों ने राम पर तो वाण नहीं चलाए, पर सेना पर विद्युत-गति से लव और कुश ने ऐसी वाण वृष्टि की कि उनकी सेना को कुण्ठित कर दिया॥४॥

चिन्तन् राम इहास्थितश्च चकितो दृष्ट्वा मनोज्ञौ सुतौ,
एकत्वं प्रतिभातिं विक्रम-गुणे लावण्य-सौन्दर्ययोः।
अद्वैतं परमस्ति विग्रहवतोर्द्वैतीयभावो मृषा,
आदर्शे प्रतिबिम्बितः किमुत वान्यो वास्ति नान्यः परः॥५॥

राम इस सब दृश्य का चिन्तन करते हुए बालकों को देखकर चकित स्तब्ध खड़े रह गए। आज तो पराक्रम गुण में लावण्य और सौन्दर्य एकरूप हो रहे हैं। वैसे तो दोनों शरीरधारी बालकों में भी सब दृष्टियों से अद्वैत भाव ही भासित हो रहा है और द्वैतीय भाव का मिथ्यापन भी आभासित है, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित चित्र आश्चर्य

में डाल देता है कि ये दो हैं अथवा एक ही हैं और तब पर और अपर में अन्यताभाव नहीं रहता है॥५॥

जातः को भुवि भाग्यवान् सुजनकः कुक्षिश्च धन्यास्ति का?,
एतौ विक्रम-विग्रहौ अनुपमौ का वा प्रसूते सुतौ।
आभ्यां वा कतमत् कुलं शुचि-यशः-सम्भूषितं सेत्स्यते,
क्रीडद्भ्यां तनु-लिप्त-धूलिभिरहो कोऽङ्कः कृतार्थीकृतः॥६॥

संसार में इनका भाग्यशाली पिता कौन है? इनके जन्म से किस माँ की कोख धन्य हुई है? साक्षात् पराक्रम के अवतार इन अनुपम पुत्रों को किसने जन्म दिया है? इन दोनों के द्वारा कौन सा कुल उज्ज्वल यश से विभूषित होगा? इन्होंने खेल में लिपटी हुई धूल से किस गोद को कृतार्थ किया है?॥६॥

स्मृत्वाऽहं तु रणस्थलीमुपगतः कोऽयं नु मोहो मम,
नाराचं धनुरप्यसाधयदयं तस्मिन् क्षणे वै द्रुतम्।
सीता प्रादुरभूत् कुतः कृशतनुः सम्प्रद्रवन्ती रणे,
बाहुभ्यां च बबन्ध तौ लवकुशौ विस्मापयन्ती च माम्॥७॥

मुझे याद आ रहा है कि मैं तो रणभूमि में आया हुआ हूँ, फिर मुझे यह व्यामोह, क्योंकर हो रहा है? और मोह भी उस क्षण में जबकि मैंने धनुष वाण साध लिये हैं। अरे! रणाङ्गण में दुर्बल काय सीता इन बालकों की ओर दौड़ कर आती हुई कहाँ से प्रकट हो गई? और मुझे आश्चर्य में डालती हुई उसने अपनी भुजाओं में लव-कुश को बाँध लिया॥७॥

सीता

हे निर्बन्धपरौ प्रियौ मम सुतौ तूणीर-चापं भुवि,
शीघ्रं वै अवतार्य रक्षतमयं युद्धे पिता राघवः।

हाऽभाव्यं भवतीह कीदृशविधिर्मे वैपरीत्यं गतः,
किं कुत्रापि पितुः सुतस्य समरः शास्त्रेऽपि कर्णं गतः ?॥८॥

सीता

हे मेरे प्यारे हठी पुत्रो! तूणीर और धनुष को उतार कर जल्दी भूमि पर रख दो। इस युद्ध स्थल में तुम्हारे पिता राघव सामने खड़े हैं। हाय! यह अनहोनी क्या हो रही है? मेरा भाग्य कैसा उल्टा हो गया? मेरे पुत्रो! क्या तुमने पिता और पुत्र का युद्ध करना शास्त्र में सुना है? ॥८॥

सीता

त्वं याचस्व लव क्षमामपि कुश त्वं राघवं वा नतः,
मातस्त्वं कथयस्व प्रागयमधो रक्षेत् स्वचापं शरम्।
अस्माकं तु पितामहो निरदिशत् शत्रुं च तं शस्त्रिणम्,
इच्छेच्चाऽपि पराजयं स्वतनुजान्नैवापमानः पितुः॥९॥

अरे लव और कुश! तुम विनम्र होकर पिता से क्षमायाचना करो। लव कहने लगा- माता तुम इनसे कहो, पहले ये अपने धनुर्वाण को उतार कर रखें। आश्रम के पितामह बाल्मीकि ऋषि ने धनुर्वेद पढ़ाते हुए यह निर्देश दिया था कि जो व्यक्ति रण में तुम्हारे सामने शस्त्र धारण कर आये, वह शत्रु है और यह भी सिखाया था कि पिता को पुत्र से पराजित होने की इच्छा होनी चाहिए (पुत्रादिच्छेत् पराभवम्) इसलिए शास्त्रानुसार पहले धनुष रखने में इनका अपमान नहीं है॥९॥

लवः -

मातर्मुञ्च रणाय सम्प्रति मम त्वं स्पन्दमानौ भुजौ,
यावन्नैव रणाङ्गणात् प्रतिमुखो गच्छत्ययं राघवः।
शिष्टाचारवशाच्शरस्तु प्रथमोऽस्याङ्घ्रिव्जयोरापतत्,
एषोऽन्यः स्फुरतीह वेद्धुमचिरं वक्षस्थलं वा शिरः॥१०॥

लव

माँ! तुम मेरी भुजाओं को मत बाँधों, ये रण करने को फड़क रही हैं, इन्हें छोड़ दो। जब तक यह राघव रणाङ्गण से पराङ्गमुख नहीं हो जाते, तो जहाँ मेरा प्रथम वाण इन आयुवृद्ध के चरणों में शिष्टाचारवश गिरा था अब यह दूसरा वाण इनके वक्षस्थल या शिर को बेधने को मचल रहा है॥१०॥

वाल्मीकेस्तु प्रशिक्षणस्य धनुषो विद्या कषे मे गुरोः,
साफल्यस्य परीक्षणेऽद्य सहसा युद्धे मयाऽऽरोपिता।
मातुस्तेऽपि पयःपरीक्षणविधौ लाजावने प्रश्नकः,
यावन्नैति शमावतार-मुनिराट् तावत् समाधास्यति॥११॥

गुरुवर वाल्मीकि द्वारा प्रशिक्षित धनुर्विद्या आज सफलता के परीक्षण की कसौटी पर रख दी गई है। और माँ तेरे भी दूध के लजाने का प्रश्न आज परीक्षा में है। इस प्रश्न का भी शान्ति के अवतार महर्षि जब तक नहीं आ पाते, उसससे पहले ही मेरे द्वारा समाधान कर दिया जायेगा॥११॥

''रणक्षेत्रे शमाभियानम्'' इति शीर्षके निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

महर्षि-वाल्मीकेरागमनम् (१७)

दृष्ट्वैव श्रुतिपारगं सुतपसां राशिं मुनीन्द्रं पुरः,
शान्तः सैन्य-विकस्वरो लवकुशौ सद्यो नतौ पादयोः।
रामश्चाश्रम-भूमिका-परिसरे सैन्य-प्रवेशाय वा,
नानाऽऽज्ञां प्रणतोऽप्ययाचत मुनिं क्षम्योऽस्मि देवर्षिणा॥१॥

वेद के पारङ्गत तपोनिधि मुनिवर वाल्मीकि को समक्ष देखकर सेना का कोलाहल स्वर शान्त हो गया और शान्त होकर लव-कुश ने ऋषिवर के चरणों में प्रणाम किया और आश्रम भूमि के परिसर में बिना अनुमति प्रवेश के लिए राम ने प्रमाण पुरस्सर ऋषिवर से क्षमा याचना की कि हे देवर्षे! इस अपराध के लिए कृपया क्षमा कीजिये॥१॥

महर्षिरुवाच -

ऊचे तपस्विनां श्रेष्ठः, सान्द्रगम्भीरया गिरा।
प्रशान्तं भवतात् सर्वं, वातावरणमाश्रमे॥२॥

महर्षि बोले

तपस्वियों में श्रेष्ठ ऋषिवर मेघवत् सान्द्र गम्भीर वाणी में बोले कि आश्रम का विक्षुब्ध वातावरण शान्त हो जावे॥२॥

इमौ बालौ तवाऽज्ञानाद्, अपराधं प्रचक्रतुः।
शत्रुघ्न-लक्ष्मणाभ्यां च, भरतेन त्वया सह॥३॥

इन तुम्हारे बालकों ने अज्ञान के कारण यह अपराध, शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और तुम्हारे साथ किया है॥३॥

अश्वमेधस्य चाश्वस्ते, पुत्राभ्यामवरोधितः।
विजयी घोष्यते राम, अश्वमेधस्य साधने॥४॥

हे राम! अश्वमेध का यह घोड़ा तुम्हारे ही इन पुत्रों ने रोक लिया था, अतः मैं वाल्मीकि इस अश्वमेध की सिद्धि में तुम्हारे विजय की घोषणा करता हूँ ॥४॥

जीवतां सुचिरञ्जीवौ, त्वत्सत्कीर्ति-विवर्धनौ।
अवतारय चापं त्वं, तूणीरमपि वा क्षितौ ॥५॥

तुम्हारी सत्कीर्ति को बढ़ाने वाले ये तुम्हारे पुत्र लव-कुश चिरञ्जीव हों। राम! अब तुम भी धनुर्वाण को उतार कर भूमि पर रख दो ॥५॥

आश्लिष्यन्तु भवन्तो वै क्षमाशीलाः स्वपुत्रकौ।
इमौ युष्मच्चरणेषु पतितावाशिषाऽऽशया ॥६॥

आप लोग क्षमाशील और महान् हैं। ये बालक तुम्हारे ही अंश है, ये तुम्हारे चरणों में आशीष पाने की आशा में पड़े हुये हैं इनको आप लोग अपना आशीर्वाद और प्यार दें। ॥६॥

अमोघवीर्यौ तेजस्वि-धनुर्वेदविशारदौ।
सीतोग्रतपसा वृद्धौ, रघुवंश-विभूषणौ ॥७॥

ये अमोघपराक्रमशाली, तेजस्वी और धनुर्विद्या में निष्णात हैं। इस सीता-पुत्री के उग्र तप से पाले गए रघुवंश के भूषण हैं ॥७॥

पुत्रि! त्वं कुरु नैव सम्प्रति धरां चार्द्रां स्वकीयाञ्चलम्,
दुःखानामपि लोपनं समभवद् दूरेऽप्यतीते क्वचिद्।
सौभाग्यं तव तापसेन विधिना संरक्षितं चाक्षतम्,
सम्प्राप्तं खलु चाद्य सौख्यमखिलं रामः पुरस्तात् तव ॥८॥

हे बेटी सीते! अब तुम इस धरा और आंचल को आँसुओं से न भिगोओ। दुःखों का लोप भी अब कहीं सुदूर अतीत में विलीन हो चुका है। तुम्हारी कठोर तपश्चर्या से तुम्हारा सौभाग्य अक्षत और

सुरक्षित है। तुम्हारे सर्वस्व ये राम तुम्हारे सामने हैं, अब तुम्हें समग्र सुख प्राप्त हैं॥८॥

सर्वे चाश्रम-पादपाः प्रियलतास्ते पुष्पिताः सत्फलाः,
जायन्ते पशु-पक्षिणोऽपि मुदिताः प्रीता हरिण्यस्तव।
तासां वा किल शावकाः प्रमुदिता पश्योच्छलन्तः समे,
सम्प्रीतास्तव प्रीति-पात्र-सुभगाः सख्यः समीपे स्थिताः॥९॥

आश्रम के सब वृक्ष और ये लताएँ पुष्पित और फलित हो रही हैं। पशुपक्षी मुदित हैं, अतः तुम्हारी प्रिय सहचरी हरिणियाँ भी आज प्रसन्न हैं। देखो, उनके बच्चे भी प्रसन्न हुए कुलाचें भरते हुए तुम्हारे पास आ रहे हैं। तुम्हारी प्रीति-पात्र सखियाँ भी तुम्हारे पास खड़ी हैं॥९॥

पुत्रि त्वत्तपसाऽऽश्रमस्य धरणी पुण्या पुनः पाविता,
शश्वच्चन्दन-सौरभा समभवद् वासेन ते चाध्यगात्।
अक्षय्यां यशसोज्ज्वलां च प्रथितिं पृथ्व्यां च ते पुत्रकौ,
जीवेतां शतशारदं शुचिधिया सर्वप्रमोदावहौ॥१०॥

हे पुत्री! आश्रम की यह पुण्यस्थली तुम्हारी तपश्चर्या से और भी अधिक पावन हो गई। चन्दन से सुरभित यह तपोभूमि तुम्हारे निरन्तर निवास से पवित्र हो यश से उज्ज्वल अक्षय प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई है। अपनी पवित्र बुद्धि से सबको प्रसन्नता देने वाले ये दोनों पुत्र सैंकड़ों शरद ऋतुओं तक चिरञ्जीव हों॥१०॥

रामः किन्तु सुलज्जितो नतशिराः सीता-पुरस्ताद् वचो,
वक्तुं नो वृणुते स्म साहसमलं स्मृत्वा प्रतिज्ञां स्वकाम्।
वैवाहे समये पवित्र-हुत-भुक् साक्ष्ये कृतां मन्त्रकैः,
सर्वं तद् विपरीतमेव चरितं दुःख-प्रदात्रा मया॥११॥

उस समय राम सीता के सामने लज्जित से शिर झुकाये हुए खड़े रहे, सोचते रहे, कि विवाह के समय पवित्र यज्ञाग्नि को साक्षी करके वेद-मन्त्रों का उच्चारण कर जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उनका स्मरण कर बोलने का साहस न कर सके और सोचते रहे कि सीता को अपार दुःख देने वाले मैंने सदा उसके विपरीत ही आचरण किया ॥११॥

सीता-दुर्गतिकारणं निजमनः सङ्कल्पितं वीक्ष्य सः,
बाह्येऽन्तः कुचितोऽपि किन्त्वतितरामन्तर्विशीर्णोऽभवत्।
सीतामस्तकमालुलोक सहसा सौभाग्य-बिन्दुं विना,
अन्तस्तप्तहिमायितान्तरगलन्नक्ष्णोरपांबिन्दवः ॥१२॥

अपने मन द्वारा ही संकल्पित समझ कर राम बाहर से संकुचित सिमटे खड़े रहे पर भीतर तो बिखर ही गए। उन्होंने सीता के माथे को सौभाग्य बिन्दु से रहित श्रृंगारविहीन देखा, वे अन्तर में अत्यन्त अनुतप्त थे तब उनके अन्तस्तप्त हिमीभूत हृदय से उठकर आँखों के मार्ग से जलबिन्दु टपक गए ॥१२॥

स्वर्णाभं तनु नीरजं रविकुलोत्पन्नेन सीते तव,
रामेणाऽस्ति विकासितं न कुचितं सम्प्रापितं ग्लानताम्।
सद्योमङ्गल-कङ्कणः परिणयस्यास्ते मया भ्रंशितः,
मूर्धस्थाप्यमणिर्मयैव विवशो मृद्येव हा पातितः ॥१३॥

हे सीते! सूर्यकुल उत्पन्न मुझ राम ने तुम्हारे स्वर्णिम तनुकोमल को विकसित न कर संकुचित कर मुरझा दिया है और बहुत जल्दी परिणय के मंगल कंगन को तोड़ दिया। शिर पर स्थापित करने योग्य मणि को मैंने धूलि में गिरा दिया ॥१३॥

मर्यादा पुरुषोत्तमः प्रभवितुं कीर्ति-प्रलोभेन तु,
एषाऽनर्थ-परम्परा सुघटिता क्रूरेण राज्ञा मया।
हा हा ! गर्भभरालस- स्व- प्रणयिन्यामेवमत्याहितम,
नूनं सज्जन-हास्य- भाजनमयं रामश्चिरं स्थास्यति ॥१४॥

मर्यादा पुरुषोत्तम होने के क़ीर्ति-प्रलोभन से मुझ राजा की क्रूरता से ही तुम्हारे साथ यह अनर्थ-परम्परा जुड़ गई। हा हा ! गर्भ-भार से अलसित अपनी प्रणयिनी सीता पर मैंने यह वन-निर्वासन रूप अत्याचार किया, निश्चय ही यह राम सत्पुरुषों का चिर काल तक उपहास और निन्दा का पात्र रहेगा॥१४॥

तिर्यक्कृत्य निजाननं नयनजाद्भिः क्षालयन्ती प्रिया,
शय्यां कण्टक-निर्मितां सुमनसां मत्वाऽस्वपत् सर्वदा।
भूयस्तां विपिने विमोक्तुमदिशं बन्धुं निजं निर्दयः,
हा जीवामि तथापि वज्रहृदयः प्राणाः प्रयान्तु द्रुतम्॥१५॥

मेरी प्रिया (उसके आँसु देखकर कहीं मैं न दुःखी हो जाऊँ अतः) मुँह छिपाकर आँसुओं से अपना मुख धो रही है। काँटो की शय्या को जो सदा पुष्प-शय्या मानती रही, इतने पर भी मुझ निर्दय ने फिर से निर्जन वन में छोड़ आने का क्रूर आदेश लक्ष्मण को दे दिया, इतने पर भी मैं वज्रहृदय जीवित हूँ। मेरे प्राणों! तुम्ही स्वयं इस शरीर को छोड़कर चले जाओ॥१५॥

महर्षि-वाल्मीकेरागमनम् इति शीर्षके निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

कारुण्यवारान्निधिः (१८)

ब्रह्मर्षेर्वचसां विरामसमये सर्वाश्रमो नीरवो,
जातो लोचन-मार्गतोऽश्रुप्रवहस्तस्मिन्नधीरक्षणे ।
शश्वद् धैर्य धनस्य पाणिकमलाद् रामस्य चापः शरः, भूमौ
सम्पतितौ अनीरित-धिया कीदृग् विधेः सङ्गमः ?॥१॥

महर्षि बाल्मीकि के वचनों के अ्रनन्तर सारा आश्रम नीरव और शान्त हो गया, उस अधीर क्षण में सबके नेत्रों से अश्रुधारायें प्रवाहित होने लगीं। धैर्यशील राम के हाथों से धनुष-वाण स्वतः छूटकर भूमि पर गिर पड़े। कैसा भाग्य का विधान है?॥१॥

बाहुभ्यामुददीधरत् प्रियसुतौ स्वाङ्के समाधाय वै,
आश्लिष्यन् समुपागतो बहुचिरं चानन्द-निद्रामिव।
ब्रह्मानन्द-रसानुभूतिरभवत् तद् गात्रसंस्पर्शने,
सीता सङ्कुचिते व दृश्यमखिलं पश्यन्त्यवाक् संस्थिता॥२॥

अपनी भुजाओं में राम ने अपने दोनों पुत्रों को उठा लिया और गोद में बैठा लिया। उन्हें चूमते हुए बहुत देर तक आनन्द की निद्रा में डूबे से रहे, उन्हें उस समय ब्रह्मानन्द रस की अनुभूति पुत्रों के गात्र संस्पर्शन से हुई। सीता इस दृश्य को सकुचाई खड़ी अवाक् देखती रहीं॥२॥

एतद् भास्करवंशकेतुहृदयस्यार्द्रां दशां वीक्ष्य वै,
सूर्यश्चाऽपि सहानुभूति-करणे नः स्तब्ध-गत्या स्थितः।
सद्यो धैर्य-हिमालयोऽपि गलितो वाल्मीकिरूपोऽश्रुभिः,
यद्येवं मुनि-मानसं ह्यधृतिवद् धैर्यं क्व यायात्तदा?॥३॥

इस देदीप्यमान वंश के ध्वज-स्वरूप राम की आंसुओं से आर्द्र दशा को देखकर सूर्य भी मानो सहानुभूति में अपनी गति को रोक ठहर

गया। आज तो महर्षि वाल्मीकि रूपी हिमालय भी आँसुओं से विगलित हो उठा। यदि ऐसे परम तपस्वी धैर्य-धन ऋषियों का मानस भी अधीर हो उठेगा तो यह धैर्य धर्म अब किसके आश्रय में रहे ॥३॥

सीतायाश्च वियोग रात्रय इमा अद्याश्रयन् राघवम्,
आपप्रच्छुरयोगदुःखपरिमाणं वर्तते वै कियत्।
अश्रूणां किल बिन्दवो निपतितास्तेषामुषा साक्षिणी,
विन्दून् मौक्तिकसन्निभानगणयत् सूर्यः करैरार्द्रहृत्॥४॥

आज यहाँ सीता की सारी न सोई वियोग-रात्रियों ने राघव के पास जाकर पूछा कि आप ही बताइएँ कि वियोग के दुःख का परिमाण कितना होता है? उन निशाओं के आसुओं के जो बिन्दु घास पर गिरते थे उनकी साक्षिणी तो केवल उषा है। जिन मुक्ता बिन्दुओं को सूर्य ने अपने करों से एक-एक गिनने का साहस किया था पर वह सूर्य भी करुण हृदय हो स्वयं रो पड़ा, गिन न सका।

कारुण्यवारान्निधिः इति शीर्षके निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

सीते ! निवर्त्तस्व (१९)

रामः

सीतायाः किल सर्वदुःख जनको रामः स्वयं भिक्षते,
न क्षम्योऽस्त्यपराध एव सुतरामेकोऽपि मे जानकि।
हृद्-विश्वास इदं सदा कथयते दीने स्वके राघवे,
दैन्यं वै दलयिष्यति द्रवित-हृत् सीता तु निश्चप्रचम्॥१॥

सीता के सारे दुःखों का एकमात्र दाता यह राम तुमसे भिक्षा मांग रहा है। देवी! मेरा कोई भी अपराध ऐसा नहीं है जो क्षमा किया जा सके। फिर भी मेरे हृदय का विश्वास यह कहता है कि अपने इस दीन बने हुए राम पर निश्चय ही सीता हा हृदय द्रवित होगा और वह मेरी समस्त दीनता का दलन कर देगी॥१॥

एतस्मिन् क्षण एव चाश्रमपतिः कारुण्य-मूर्तिर्मुनिः;
रामान्तर्व्यथितिं निभाल्य सकलां सीमातिगां योगतः।
वव्रे ते हयमेधपूर्त्तिसमये शिष्यौ च सीतां सुताम्,
आनेष्यामि सहैव सम्प्रति पुरीं यूयं प्रयात प्रति॥२॥

इसी समय आश्रम-पति महर्षि वाल्मीकि योग-बल से राम की अन्तर्व्यथा को सीमातीत समझ कर कहने लगे कि राम तुम सब अयोध्या पुरी को लौट जाओ। मैं स्वयं अश्वमेध के यज्ञ की पूर्ति के समय पर सीता और लव-कुश को लेकर आऊँगा।

इति 'सीते निवर्त्तस्वेति' शीर्षके निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा॥

वाल्मीकेरयोध्यां प्रति प्रस्थानम् (२०)

सीतामृषिर्लवकुशौ समदेशयद् यत्,
प्रस्थास्यते खलु प्रगे हयमेध-यज्ञे।
वीणां युवामपि च नेष्यथ एव सार्धम्,
संगास्यथः स्मृतकथामपि तत्र काले॥१॥

ऋषिवर ने सीता और लव-कुश को अयोध्या में हो रहे अश्वमेध यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए प्रातः प्रस्थान करने का आदेश दिया। तुम दोनों भाई साथ में वीणा को भी ले चलोगे। वहाँ याद की हुई कथा का यथासमय गान करोगे॥१॥

यत्र सर्वे महात्मानः, रामस्य च कुटुम्बिनः।
सभायामश्वमेधस्य, संगताः स्युस्तपस्विनः॥२॥

जहाँ सभा में महात्मा, तपस्वी और राम के बन्धु बान्धव अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति पर एकत्र होंगे॥२॥

अथ सभामृषि-पुङ्गव-शोभिताम्,
विविशतुर्गुरुणा सह राघवौ।
जनकजा परमैक्षत काञ्चनीम्,
स्वप्रतिमां यजनस्थल-संस्थिताम्॥३॥

अब अयोध्या पहुँचने पर ऋषि मुनियों से मण्डित सभा में गुरुवर वाल्मीकि के साथ लव-कुश ने प्रवेश किया, वहाँ सीता ने यज्ञ स्थली पर स्वर्णमयी अपनी प्रतिमा देखी॥३॥

रघुवरः प्रणिधाय गुरोर्वचो,
भवति नो हयमेध-प्रपूरणम्।
सहचरीं तु विनेति पतिव्रताम्,
तदनु शास्त्रविधिः परिपालितः॥४॥

श्री राम ने गुरु वशिष्ठ के वचन सुने कि राम अश्वमेध की पूर्ति पतिव्रता पत्नी के विना नहीं होती। इसलिए मर्यादापालक राम सीता को वन से तो वापस बुला नहीं सकते थे, अतः राम ने स्वर्णमयी सीता की प्रतिमा रखकर शास्त्र विधि का पालन किया है॥४॥

आश्चर्यमागतवती जनकात्मजा सा,
स्नेहं विचार्य गहनं रघुनन्दनस्य।
चुक्रोश पूर्वजनि-शापित-नैज-भाग्यम्,
मर्यादया विवशराममिमं न जातु॥५॥

उपस्थित जनकात्मा यह देख अचरज में पड़ गई और श्री राम के अगाध स्नेह पर विचार करके अपने पूर्व जन्म के शापग्रस्त भाग्य को कोसने लगी, परन्तु मर्यादा-पालन के लिए विवश राम को बिल्कुल दोषी नहीं ठहराया॥५॥

वाल्मीकिरेव मुनि-पुङ्गव एष ऊचे,
सीता सदाऽवसदियं पति-भक्ति-धीरा।
वाचोऽनृता यदि च मे हि सहस्र-जन्म-
संसाधितं किल तपः फलमाप्नुयान्नो॥६॥

इतने में मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि कहने लगे कि सीता पुत्री सदा पति की भक्ति में ही लीन रही है, यदि यह मेरी वाणी मिथ्या हो, तो सहस्त्रों जन्मों से साधित मेरी तपस्या निष्फल हो जाये॥६॥

सीता ममास्ति तनया पति-देवतात्मा,
यस्याः कथा कमपि पावयितुं समर्था।
लोकापवाद-परिभीत-नृपाय तुभ्यम्,
एषा स्वयं सपदि दास्यति प्रत्ययं वै॥७॥

सीता मेरी पुत्री है, जो अपने पतिदेव को ही अपना आत्मा समझती रही है। जिसकी कहानी किसी को भी पवित्र करने में समर्थ

है। लोकापवाद से परिभीत राजा राम! तुम को यह स्वयं ही विश्वास प्रदान करेगी ॥७॥

रामः

प्रत्ययोऽस्ति मम श्रेष्ठा ऋषिवाक्यैरकल्मषैः।
शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे ॥८॥

श्री राम बोले - हे मेरे पूज्य ऋषिगण! मुझे इन ऋषीश्वर वाल्मीकि के पवित्र वचनों पर वैदेही की शुद्धता पर पूर्ण विश्वास है, आप लोग आशीर्वाद दें कि इसमें मेरी प्रीति सदा रहे ॥८॥

रामाङ्गीकृत-सद्वचोभिरवदत्, धन्योऽस्त्ययं राघवः।
केचिद् वै अतिशायि-हर्ष हृदया, धन्यां जगुर्मैथिलीम्
दिव्यः सौरभ-सम्भृतः सुखप्रदो वायुर्ववौ शीतलः,
तप्तेभ्यो हृद्भ्यः शमं प्रति ददावानन्दवारान्निधिः ॥९॥

वहाँ उपस्थित कुछ लोग श्रीराम द्वारा सीता को अङ्गीकृत कर लेने के वचनों से राघव का धन्यवाद करने लगे और कुछ लोग अतिशय प्रसन्न होकर मैथिली को धन्य-धन्य कहने लगे। उस समय शीतल और सुगन्धित सुख-प्रद वायु सब ओर बहने लगा और आनन्द के समुद्र ने उमड़ कर प्रतप्त हृदयों को शान्ति प्रदान की ॥९॥

इति वाल्मीकेरयोध्याम्प्रतिप्रस्थाने निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा ॥

सीतायाः शपथग्रहः (२१)

साध्यानृषीश्वरान् देवान्, दृष्ट्वाकाषाय-वासिनी।
उवाच प्राञ्जलिः सीता, अधोदृष्टिरवाङ्मुखी॥१॥

काषाय परिधान वेष्टित सीता ने साध्य, ऋषि और देवों को उपस्थित देखकर निम्न दृष्टि और शिर को झुकाकर हाथ जोड़ प्रार्थना की॥१॥

आदर्शं सर्वनारीणां, लोके स्थापयितुं नवम्।
स्वाभिमानस्य सुस्तम्भम्, सीता वाक्यमथाब्रवीत्॥२॥

संसार में नारियों का नवीन आदर्श और स्वाभिमान के स्तम्भ को स्थापित करने के लिए सीता देवी इस प्रकार कहने लगी॥२॥

चिरकाल वियोगेऽपि, पातिव्रत्यसुनिष्ठया।
न मया राघवादन्यो, मनसाऽपि विचिन्तितः॥३॥

चिरकाल से वियुक्त होने पर भी पातिव्रत्य की निष्ठा से परिपूर्ण मैंने कभी भी राघव के अतिरिक्त किसी का मन से भी चिन्तन नहीं किया॥३॥

मनसा कर्मणा वाचा, यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी, विवरं दातुमर्हति॥४॥

मन, वाणी और कर्म से जैसे मैंने राम की अर्चना की है, उसी प्रकार मुझे विष्णु पत्नी भूदेवी अपने विवर में स्थान देने योग्य है॥४॥

यथैतत् सत्यमुक्तं मे, वेद्मि रामात् परं न च।
तथा मे मातृभू-देवी, विवरं दातुमर्हति॥५॥

जैसा कि मैंने सत्य कहा है कि राम के अतिरिक्त मैंने किसी अन्य पुरुष का ध्यान नहीं किया। तो, माता भू देवी मुझे अपने गर्भ में स्थान दो॥५॥

अज्ञात-मातृ जाताऽहं, भूमिमात्रा च गोपिता।
सूर्यवंश-वधूर्जाता, जनकेन सुपालिता॥६॥

अज्ञात माता ने मुझे उत्पन्न किया था, भूमि-माता ने मुझे अपनी गोद में छिपा कर मेरी रक्षा की, राजा जनक की धर्मपत्नी मेरी माँ ने मुझे पाला फिर सूर्यवंश की वधू बनी॥६॥

साध्यान् देवानृषीन् सर्वान्, याचे काषाय-वासिनी।
स्वीय स्वीय तपोंऽशैश्च, विवरं दापयन्तु मे ॥७॥

काषाय वस्त्र धारण किये हुये मैं अब जीवन के प्रति निरीह हो चुकी हूँ, अतः सब साध्य, देव और ऋषियों से मैं याचना करती हूँ कि वे अपनी-अपनी तपश्चर्या का अंश मुझे भिक्षा में प्रदान कर पृथिवी माता से अपनी गोद में समा लेने का शुभाशीष् प्रदान करें॥७॥

तथा शपन्त्या तपसोऽग्रकर्मणा,
किमप्यभूद्भूतल - रन्ध्र-सम्मितम्।
यथाऽऽगता सा प्रविवेश वै तथा,
विलोपितुं पार्थिव-देहमात्मनः॥८॥

इस प्रकार शपथ लेती हुई सीता के उग्रतप से कुछ अद्भुत सा विवर दिखाई पड़ा, मानो पृथिवी का हृदय फटने लगा और जैसी वह सीता इस भूमि के मृत्तिकाऽऽवरण से प्राप्त हुई थी उसी प्रकार मिट्टी में प्रवेश कर गई और उसको छोड़ जीवात्मा विलुप्त हो गया॥८॥

सीमान्त-दुःखं जननी न कापि,
स्वसन्ततेः सोढुमलं समर्था।
अतो धरामातुरिदं हि वक्षः,
समस्फुटत् स्वं शरणम् प्रदातुम्॥९॥

किसी भी माँ का हृदय अपनी सन्तति के सीमातीत उत्पीडन को सह नहीं सकता, अतः पृथिवी माता की छाती सीता को शरण देने के लिए फट गई ॥९ ॥

खंखे वायौ गता वायुः, अग्नयेऽग्निः जलं जले।
पार्थिवांशः पृथिव्यां वै, ययुश्चान्त्येष्टि-कर्मणा ॥१० ॥

अन्त्येष्टि संस्कार के द्वारा आकाशादि पञ्चभूत अपने-अपने कारणों में विलीन हो गए ॥१० ॥

इति सीतायाः शपथ ग्रहे निर्मलार्थदीपिका सम्पूर्णा ॥

रामविलापः (२२)

वाष्प-व्याकुलितेक्षणो नतशिरास्तस्मिन् क्षणे दुःखितः,
रामो दीनमनाश्चिरं ह्यवदसौ, वाष्पैर्धरामार्द्रयन्।
पूर्वं मे त्वनुपस्थितौ जनकजेयं रक्षसां स्वामिना,
सीता मेऽपहृताद्य नाशमयिता भूम्यां तु सम्पश्यतः ॥१॥

आँखों में आँसु भरे हुए प्रणतशिर और दीन-मन राम आँसुओं से धरा को भिगोते हुए कहने लगे। प्रथम तो वन में मेरी अनुपस्थिति में राक्षस राज रावण ने सीता का अपहरण कर लिया था, पर आज तो मेरे देखते-देखते इस भूमि पर वह विलुप्त हो गई ॥१॥

पारेऽदर्शनमापिता खलु महाब्धेर्जानकीमानयम्,
लङ्कातो वसुधातलात् नहि ममाऽसम्भाव्यमस्ति ध्रुवम्।
त्वं श्वश्रूर्मम मातरेवमधुना त्वां दर्शयाम्यादरम्,
तस्माज्जीवन-संगिनीं जनकजां त्वं देहि मे सत्वरम् ॥२॥

पहले तो दृष्टि से परे पहुँची सीता को मैं महासागर पार कर ले आया तो वसुधातल से भी लाना मुझे असम्भव नहीं है। हे भूमाता मैं तुम्हारा सास होने के कारण आदर करता हूँ, इसलिए मेरी जीवन सङ्गिनी सीता को शीघ्र लौटा दो ॥२॥

नो चेन् मे विवरं प्रयच्छ सपदि प्राणा भवन्त्याकुलाः,
पातालाऽमृत-भोजिनामपि पुरे वत्स्यामि नो तां विना।
यद्येवं न प्रयच्छसि प्रियतमां साऽरण्य भूभृत्ततिः,
कृत्स्नेयं व्यथयिष्यते जलमयी सम्भाव्यते ते स्थितिः ॥३॥

यदि ऐसा नहीं करती तो मेरे लिए भी विवर देकर अपने में सम्भालो। पाताल या स्वर्ग की नगरी में मैं सीता के विना नहीं रह सकता। यदि माँगने पर भी तुम मेरी प्रियतमा को नहीं लौटाती हो तो

अरण्य और पर्वतों सहित यह पृथिवी जलासहित ध्वस्त हो जायेगी ॥३॥

लक्ष्मणाऽनुतापः

सीता मातुः शरणचरणौ जीवने सेवमानः,
स्मृत्वाऽदृष्ट्वा विकल विकलो लक्ष्मणोऽसौ विलापम्।
चक्रेऽकर्षं रजसि मलिनात् कण्टकान् विद्धपादात्
आमार्जं वा नयन- सलिलैर्मातृ पादारविन्दे॥४॥

जीवन भर सीता माता की सेवा करता रहा, आज वे चरण दिखाई नहीं देते यह सोचकर अति विकल और अधीर होकर लक्ष्मण सुबक-सुबक कर रो पड़े। वे रो-रो कर कह रहे थे कि मैं कभी वन के कष्टकाकीर्ण मार्ग में माता के चरणों में बीधे हुए काँटों को निकाला करता था और धूल में मलिन हुए उनके चरणकमलों को आसुओं के जल से धोया करता था॥४॥

लक्ष्मणः

मातः सीतेऽग्रज पदनिदेशान्ध-भक्तोऽभविष्यम्,
नो चेत् न त्वां विजन-विपिनेऽमोक्षयिष्यं रुदन्तीम्।
आमंस्ये चेदगमनमनः स्यन्दनाश्वाऽऽग्रहं तम्,
भ्रातुर्घोर-व्यथितिरभविष्यन्न कस्याऽपि नूनम्॥५॥

माँ सीते! यदि मैं बड़े भाई के चरणों का अन्धभक्त न हो गया होता, तो कभी निर्जन वन में रोती हुई तुम्हें छोड़कर न आता। यदि मैंने अयोध्या से ही तुम्हें वन ले जाने को तैयार न होने वाले रथ के घोड़ों की भावना और आग्रह को कदाचित् भाँप कर मान लिया होता तो यह घोर विपत्ति न भाई पर आती और न किसी अन्य पर॥५॥

तस्मात् पाप-प्रथम-जननो लक्ष्मणो मूल हेतुः,
अक्षम्योऽयं निखिल-वसुधाया व्यथायाः प्रकामम्।

एषा पृथिवी स्फुटति पुरतश्चाशु मन्ये जडाऽपि,
हे मे क्रूर व्यसनहृदय त्वं परं दीर्यसे नो॥६॥

इसलिए इस पाप के प्रथम जन्म का मूल कारण लक्ष्मण है, सम्पूर्ण वसुधा की व्यथा का भी मूल मैं ही अक्षम्य व्यक्ति हूँ। मैं देख रहा हूँ कि यह जड़ पृथिवी भी सामने फट रही है, परन्तु ओ मेरे व्यसनी क्रूर हृदय! तुम फिर भी नहीं फट रहे हो॥६॥

लवकुश रोदनम्-

नो पश्यावो मधुरपयसां सन्निधिं मातृवक्षः,
लुप्तो हा हा करुण-सरिता-सम्प्रवाहः समक्षात्।
व्याप्तो व्योम्नि व्यथित-युगल-क्रोश-रावस्तदानीम्,
घोरं शब्दं परिणय-धनुर्भञ्जनस्योल्ललङ्घे॥७॥

हा! आज हम दोनों भाई लव-कुश को मधुर गीत का सागर माँ का वक्षः स्थल दिखाई नहीं दे रहा है। हा! करुणानिधि का सम्प्रवाह आँखों के सामने से अभी-अभी विलुप्त हो गया है। तब व्यथित युगल की चीख और रोदन का शब्द आकाश में व्याप्त हो गया और यह शब्द स्वयंवर के धनुष के टंकार-शब्द को भी लाँघ गया॥७॥

रामविकलता

सीताऽभावे रघुकुलमणि-र्धूलिराशौ लुलुण्ठ,
श्रुत्वा रावं विलपन-भवं मूर्च्छनामालिलिङ्ग।
एहि प्रोचे चितिमुपगतः स्वीयबाहू प्रसार्य,
गच्छ त्वं नो पुनरपि वनं प्राणनाथं विमुच्य॥८॥

सीता के अभाव में व्याकुलता से रघुवंश मणि- राम धूलि राशि में गिर पड़े। लव-कुश की चीख भरे रोदन को सुनकर उन्हें मूर्च्छा आ गई। शोकाकुल अचेत पड़े राम ने आकाश में अपने आजानु

भुजाओं को फैलाकर सीता को बुलाते हुए कहा – "सीते! अब तुम अपने प्राणनाथ मुझको अकेला झोड़कर वन को मत जाओ।" ॥८॥

राजा भूत्वा रजककथने तां वने मोक्तुमद्धा,
भ्रातर्दिष्टस्तदिह मनुतां नैव सौमित्र जातु।
तत् कुक्षिस्थो रघुकुलभवोंशोऽपि मे पालनीयः,
इत्येवं स प्रलपन-परश्चेतनामाससाद॥९॥

भाई लक्ष्मण! राजा होकर मैंने धोबी के कहने पर सीता को पुनः वन में छोड़ आने का आदेश दिया है उसे तुम मत मानना, क्योंकि सीता की कोख में रघुवंश के अंश, तेज का भी मुझे पालन करना है। इस प्रकार बहुत सा मूर्च्छा में प्रलाप करते हुए कुछ चेतना सी आई॥९॥

मूर्च्छाभावे प्रलपनपरं राममासाद्य सद्यः,
पुत्रौ चाऽन्येऽनुज सुतनया राघवं चाऽऽलिलिङ्ग।
आधारो नो भवति च भवानप्यधीरः कदाचित्,
आलम्बः को भवतु च पुनर्नो निरालम्बकानाम्॥१०॥

मूर्च्छा में प्रलाप करते हुए राम को देख जल्दी से लव-कुश और अनुज परिवारी राम से चिपट गए। राम का आलिङ्गन करते हुए कहने लगे कि आप ही तो अब हम सबके जीवनाधार हैं, यदि आप ही ऐसे अधीर हो जायेंगे तो बताओ हम निराश्रयों का दूसरा अवलम्ब कहाँ है? ॥१०॥

दृश्यं दृष्ट्वाऽभवदतितरां विह्वलोऽसौ समाजः,
प्रत्येकस्यापि नयन-युगं चाप्लुतं वारिणाऽभूत्।
भूयासुर्वै जगति पुरुषा राघवादर्शभूताः,
नार्यः सीता सदृश-सुगुणाः किन्तु नैवं वियोगः॥११॥

इस समस्त करुणामय दृश्य को देखकर ऋषि-मुनि और राजा-प्रजा का समाज भी विह्वल हो गया। प्रत्येक के नयन-युगल आँसुओं में डूबे थे और सब कामना कर रहे थे कि हे प्रभो! संसार में श्री राम सदृश आदर्श पुरुष होंवे तथा नारियाँ जगज्जननी सीता के समान गुणवती हों, परन्तु ऐसा त्रासद वियोग कभी न हो॥११॥

इति निर्मलार्थदीपिका-सहितं "निर्वासिता सीता"
इति काव्यं सम्पूर्णतामगात्॥

आचार्य श्री डॉ. विशुद्धानन्द जी मिश्र रचितग्रन्थाः

प्रकाशिताः

1. वेदार्थ-कल्पद्रुमः(प्रथम खण्डः)
2. वेदार्थ कल्पद्रुमः(द्वितीयखडः)
3. वेदार्थ कल्पद्रुमः (तृतीयखण्डः)
4. सुरवाणी प्रशस्तिका (काव्यम्)
5. चारुचरिता मृतम् (काव्यम्
6. गोकरुणानिधिकाव्यम्
7. यास्कीयनिघण्टुः(श्लाकीकृतः)
8. वेदार्थभूमिका (संस्कृते
9. सत्यार्थप्रकाश प्रशस्तिशतकम्
10. आर्याश्च के ? हिन्दवः
11. प्रश्नोत्तरमञ्जरी
12. वने निर्वासिता सीता
13. वेदमन्त्रों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे, मन्त्रकर्त्ता नहीं
14. हृदयमीमांसा (जीवात्मा का शरीर में स्थान)
15. सुखदुःख की दार्शनिक मीमांसा
16. क्या आयु निश्चित है
17. बिहारी - एक अध्ययन
18. सूर - एक अध्ययन
19. विद्यापति - एक अध्ययन
20. गवामयन - सोमयाग-सत्र-रहस्यम्

अप्रकाशिताः

1. गृहस्थमहिमा
2. भक्ति भागीरथी
3. सुभाषितसौरभम्
4. विप्रलम्भः
5. बाल-व्यवहारभानुः
6. वैदिकवर्णव्यवस्थाविवेचन

पूज्यपाद कविरत्न आचार्य डॉ. विशुद्धानन्द जी मिश्र

दर्जनों प्रौढ़ दार्शनिक और गम्भीर ग्रन्थों के मर्मज्ञ, महर्षि दयानन्द के प्रति असाधारण श्रद्धावान्। विद्यावारिधि, दर्शनवाचस्पति और विद्यावाचस्पति की मानद उपाधियों से विभूषित। वेदार्थ कल्पद्रुम जैसे इतिहास के स्वर्णिम अक्षरों में उल्लेखनीय ग्रन्थ के प्रणेता।

अखिल भारतीय वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार, मुम्बई के विजेता, सद्गुरु गङ्गेश्वरानन्द धाम, नासिक के "वेद-वेदाङ्गो राष्ट्रिय पुरस्कार' विक्रमप्रतिष्ठान 'संयुक्त राज्य अमेरिका' के वेदवागीश पुरस्कार, उत्तरप्रदेशीय संस्कृत अकादमी के विशिष्ट पुरस्कार जैसे दर्जनों पुरस्कारों से सम्मानित। विद्वत्परिषत् द्वारा संस्कृत व हिन्दी में आशुकवित्व के लिए सम्मानित। गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के भूतपूर्व कुलपति एवं राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश - संस्कृत-अकादमी के सरकार द्वारा मनोनीत पूर्व सदस्य।

अखिल-भारतीय-संस्कृत सम्मेलनों, वेद सम्मेलनों और दर्शन सम्मेलनों के प्रमुख वक्ता व अध्यक्ष के रूप में अलंकृत करने वाले।

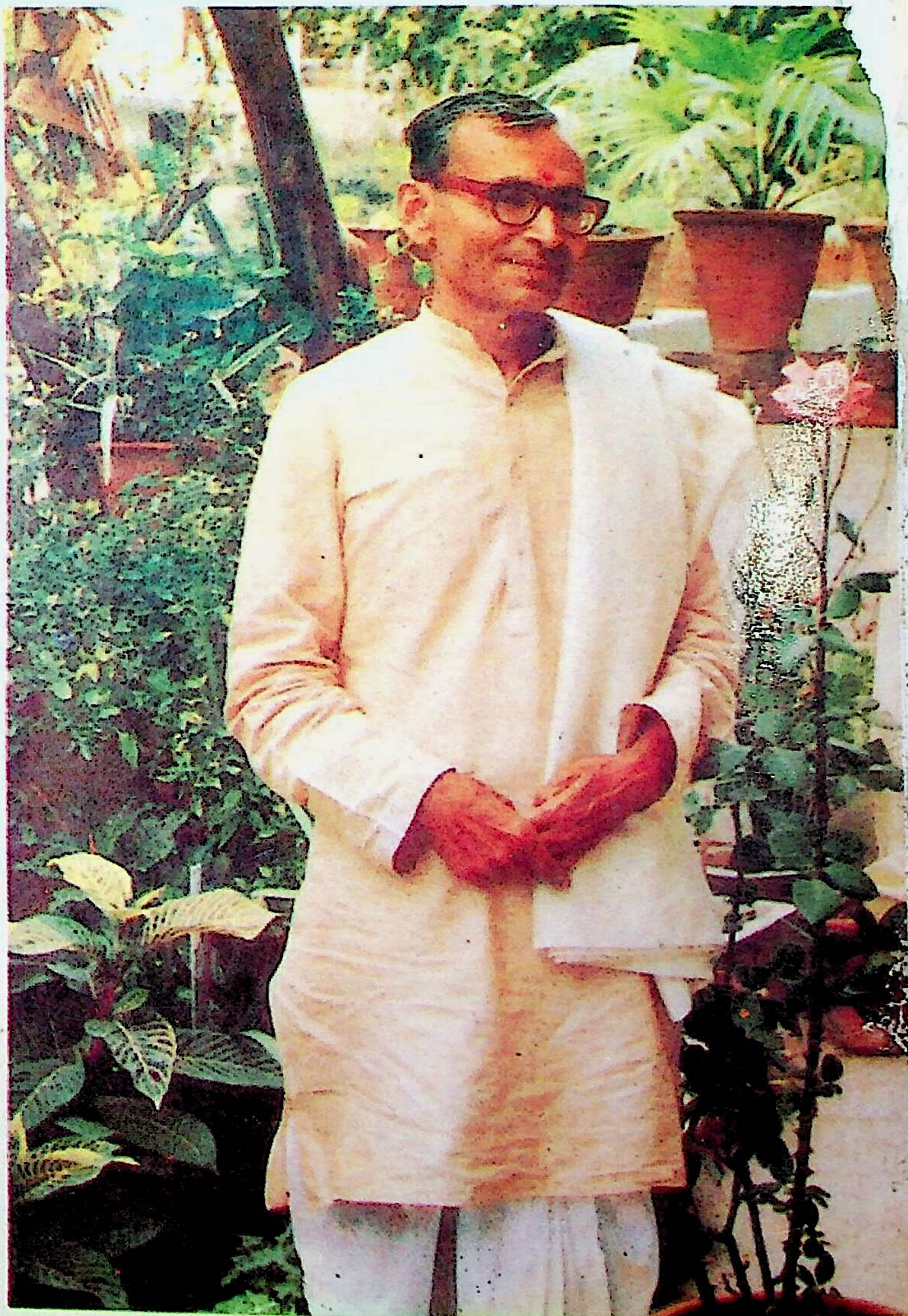
गत ढाई हज़ार वर्षों के उपरान्त वर्तमान समय में धरती-तल पर मण्डनमिश्र व भारती के रूप में अवतीर्ण प्रशस्त दम्पती, जिसके परिवार की मातृभाषा संस्कृत है। सम्प्रति दिवंगत धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला मिश्रा पांच भाषाओं की विदुषी थीं। इस दम्पती का पाण्डित्य एक-दूसरे से बढ़कर या पूरक रहा।

सहस्रों जनों के श्रद्धाभाजन! शिष्यवत्सल! कविहृदय और वेदशास्त्रसाहित्य के महाधन!

प्रकाशक : आचार्या श्रीमती निर्मला मिश्रा पुरस्कार समिति

वेद मंदिरम्, कूँचा पांडा, बदायूँ (उ.प्र.)

श्रीमती वत्सला अग्निहोत्री
केन्द्रीय स्कूल आर्मी कैन्टोन्मेंट
गान्धीनगर गुजरात
02712-234086 (R)



आर्यरत्न आचार्य डा. विशुद्धानन्द मिश्र